वैज्ञानिक खोज की कहानी

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०
मुख्य कार्यालय : रामनगर, नई दिल्ली-110055
शोरूम : 4/16-बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
शाखाएँ :

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-226001
285/J, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-700012
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500195
3, गाँधी सागर ईस्ट, नागपुर-440002
खजांची रोड, पटना-800004
माई हीरा गेट, जालन्धर-144008
152, अन्ना सलाए, मद्रास-600002
के० पी० सी० सी० बिल्डिंग, रेस कोर्स रोड, बंगलौर-560009
ब्लैकी हाउस, 103/5, वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई-400001
613-7, एम० जी० रोड, एर्नाकुलम कोचीन-682035
पान बाजार, गोहाटी-781001

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा प्रकाशित एवं राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि० रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

१

विषय प्रवेश

मैं अपने बच्चों को जो "डाक्टर-कथाएं" सुनाया करता था उन्ही की एक शृंखला मे से इस पुस्तक को लिखने का विचार उत्पन्न हुआ था। मैं वास्तविक अनुसंधान के किसी किस्से को ले लिया करता था और बताया करता था कि उससे चिकित्सा, शरीर-क्रिया-विज्ञान, जीव-विज्ञान या रसायन को एक आविष्कार की प्राप्ति हुई। विटामिन के किस्से जैसी कुछ कहानियाँ तो इस पुस्तक मे सीधी उन "डाक्टर-कथाओं" से ही आई है; शेष नई हैं। इन कथाओं का उद्देश्य था कि असली घटनाओं के माध्यम से बच्चो को यह बताया जाय कि अनुसंधान में आविष्कार का रोल क्या होता है; कैसे कोई बात सूझती है और उन परीक्षणों को जन्म देती है जो उसको जाँचते और ढालते हैं, और, परीक्षणों से निकाले गए परिणाम किस प्रकार एक आविष्कार की शक्ल अख्त्यार कर लेते है। मैं खुद एक चिकित्सक हूँ और शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक हू, तो कोई ताज्जुब नही कि ये कहानियाँ चिकित्सा, जीव-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान मे हुए अनुसंधान के क्षेत्र की हैं। लेकिन परीक्षणात्मक विज्ञान कोई-सा भी हो, अनुसंधान प्राय. एक-सा ही रहता है और मेरी कहानियों से समझ आ जायगा कि विज्ञान के अधिकाश क्षेत्रों में अनुसंधान की रूपरेखा क्या होती है।

थोडे ही दिनों मे यह स्पष्ट भी हो गया कि सामूहिक रूप से देखें तो ये कहानियाँ, वैज्ञानिक अनुसंधान के सारे प्रक्रम को सोदाहरण समझा देती हैं।

हालांकि एक कहानी एक समय में अनुसधान की किसी एक घटना का ही पूरा वर्णन देती है, फिर भी वह उस प्रक्रम के किसी एक पहलू को दूसरी कहानियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट करती है। उदाहरण के लिए, विटामिन-के का आविष्कार इस बात की बढ़िया मिसाल है कि अनुसंधान में अवसर-लाभ-क्षमता की क्या भूमिका रहती है, दो हृदयों पर किया हुआ डाक्टर लीवी का परीक्षण बताता है कि सावधानी के साथ, योजनापूर्वक किए हुए निर्णायक परीक्षण का क्या महत्त्व है। इस पुस्तक में अनुसधान की नौ पृथक्-पृथक् घटनाएं इस प्रकार दी गई है कि प्रत्येक अनुसधान की सूझ से लेकर समाप्ति तक की सारी कहानी आ जाय। इन कहानियो को एक सूत्र में बाँधने वाली विषयवस्तु है उस बहुमुखी प्रक्रम का वर्णन जिसे वैज्ञानिक अनुसंधान कहा जाता है।

आजकल के युवकों और युवतियों को वैज्ञानिको की अनेक जीवनियाँ पढ़ने को मिलती है लेकिन इस बात का मौका उनमें से प्राय. किसी को नही मिलता कि इन वैज्ञानिको के अनुसधान के किसी सुन्दर कार्य के वास्तविक विकास के सब चरणों का पूरा अनुशीलन कर सकें। मेरे बच्चों ने इन कहानियों को अच्छी तरह समझ लिया था। उससे मुझे विश्वास हो गया था कि इन कहानियो में अधिकाश युवक वर्ग की दिलचस्पी का भारी खजाना भरा पडा है। ये कहानियाँ अपनी कथा आप कहती है और मैंने इनकी भाषा को कुछ परिमार्जित करने के अलावा कोई और काट-छाँट नही की है। इस प्रकार, मेरा मुख्य उद्देश्य यह है कि इन कहानियों के माध्यम से अनुसधान की कथा कही जाय। वैसे, इस पुस्तक को लिखने के, इस उद्देश्य के अलावा, और भी कारण हैं।

आज हम जिस दुनिया में रह रहे हैं वह वैज्ञानिक क्रान्ति के साँचे में ढली हुई है। लेकिन इस दुनिया में दो ऐसी संस्कृतियाँ है जो स्पष्टतया एक दूसरे से भिन्न हैं और एक दूसरे को समझ नही पा रही हैं। इनमे से एक है वैज्ञानिक संस्कृति; दूसरी है साहित्य की अर्थात् कलाकारो, दार्शनिको तथा लेखको की परम्परागत संस्कृति। यह आवश्यक है कि आज का शिक्षित वर्ग इन दोनो संस्कृतियों में कुछ न कुछ परिचय रखे क्योंकि इनमें से प्रत्येक, मानव के इतिहास में संचित अनुभव का एक भाग है। इस प्रकार, यह पुस्तक, एक छोटे से पैमाने पर, युवक वर्ग का परिचय परीक्षणात्मक विज्ञान के साथ एक ऐसे तरीके से कराने का यत्न करती है जो सामान्यत: उनके विज्ञान-पाठ्यक्रमों में उपलब्ध नही होता। अव्वल तो इन पाठ्यक्रमों में से अधिकांश, परीक्षणात्मक होते ही नही। फिर, शिक्षक ऐसे मिलते हैं जिन्हें परीक्षणात्मक विज्ञान सम्बन्धी अपना निज का कोई अनुभव नही होता। अतः वे परीक्षणात्मक विज्ञान के बारे में

जो कुछ बताते है, महज एक ऐसे आदमी की तरह जो खुद दायरे से बाहर खड़ा है, अपनी अनुभूति के आधार पर इसके तात्पर्य को नहीं समझा सकते ।

अतः आज हमे ऐसे पुरुषों और स्त्रियों की जरूरत है जिनकी शिक्षा ने बलपूर्वक उनकी बुद्धि मे मानव के मन की—कलात्मक तथा वैज्ञानिक—दोनों अभिव्यक्तियो की मूल भावनाओ को पैठा रखा हो । विज्ञान को अपने व्यवसाय के तौर पर चुनने वाले लोग, विज्ञान सम्बन्धी अपनी धारणाओं का निर्माण प्राय. वैज्ञानिक उपन्यास पढकर करते है। दूसरी ओर ऐसे युवक-गण है जो जान ही नही पाते कि विज्ञान आखिर है क्या बला और विज्ञान को अपने व्यवसाय के तौर पर कतई नही चुनते । आशा है कि यह पुस्तक, परीक्षणात्मक विज्ञान का अधिक वास्तविक रूप प्रस्तुत करेगी, उसमें गहरी दिलचस्पी पैदा करेगी और इस नई अभिलाषा को जाग्रत करेगी कि उसे परम्परागत संस्कृति से पृथक् नही रखना है अपितु उसे जीवन के समस्त अनुभव में ओत-प्रोत कर देना है ।

२

स्टीवी ने भी आविष्कार कर लिया

अभी उस शाम की बात है। मेरे पुत्र स्टीवी ने मुझे बताया था कि वे लोग अपने स्कूल में मौसम का अध्ययन कर रहे हैं और कि वह और डेविड, मौसम जाँचने के उपकरण बनाकर उन्हें खलिहान की छत पर स्थापित करना चाहते हैं। उनको एक तो वायु-गति-सूचक चाहिए था, एक वायु-दिशा-सूचक, एक तापमापी और एक वायुदाबमापी। चर्चा के दौरान मैंने पूछा स्टीवी से कि क्या उसे वायुदाबमापी की कार्यविधि का ज्ञान है। उसे सामान्य ज्ञान तो था, उसने बताया कि वायु का भार पारे के खुले कुण्ड पर पड़ता है और उसमें खड़ी शीशे की एक नली में पारे को चढ़ाता जाता है। नली में जितनी ऊँचाई तक पारा उठता है, वायु का दबाव उतना ही होता है और इस पारे की ऊँचाई को मिलिमीटरों या इंचों में व्यक्त किया जाता है। उसे इस उपकरण के सिद्धान्त की पूरी समझ थी और हमने इसका एक चित्र बनाया।

फिर हमने तापमापी की चर्चा चलाई। उसे पता था कि ऊष्मा का परिणाम होता है अणुओं की तीव्रतर गति और कि उसके कारण तापमापी के बल्ब में पड़ा पारा फैल जाता है और ज्यों-ज्यों ताप घटता है पारा उतरता जाता है। मैंने इस बात पर जोर दिया कि तापमापी वायुदाबमापी से भिन्न होता है; यह बिलकुल बन्द होता है; इसका कोई हिस्सा खुला नहीं होता जहाँ से वायु दबाव डाल सके और कि बन्द नली के पारे से ऊपर के भाग में वायु नहीं होती—वहाँ निर्वात होता है। हमने तापमापी का भी एक चित्र बनाया।

अब मैंने स्टीवी से कुछ प्रश्न पूछे। ये उन अध्ययनों के बारे में थे जो उसे, तापमान को जानने के लिए तापमापी का वस्तुतः उपयोग करने से पहले करने चाहिए थे। "इससे पहले कि तुम निश्चयपूर्वक बता सको कि नली में के पारे की प्रत्येक ऊंचाई से कितना तापमान सूचित होता है, क्या करना होगा?"

उसने क्षण भर विचार किया और उत्तर दिया, "ताप की भिन्न-भिन्न मात्राओं को बल्ब के आसपास रखकर मापना होगा कि ताप की प्रत्येक मात्रा के साथ पारा कहाँ तक उठता है।"

मैंने कहा, "ठीक है। और, जितने भी वैज्ञानिक उपकरण किसी प्रकार की पैमायश के काम आते हैं, उन सबके साथ ऐसा ही करना पड़ता है ताकि वे ठीक परिणाम दे सकें। इस प्रकार के जिस प्रक्रम द्वारा निर्धारित किया जाता है कि कोई उपकरण कुछ ज्ञात अवस्थाओं में कैसा व्यवहार करेगा, उसे *"अंशाकन"* कहते हैं और उपकरण को अच्छे परिणाम देने योग्य बनाने के लिए इसका बहुत महत्त्व है।" स्टीवी ने सिर हिलाया, मानो वह समझ रहा है।

वायुदाबमापी
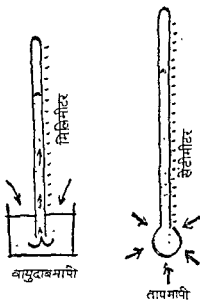
तापमापी

मैंने पूछा, "क्या तुम देखना चाहते हो कि तापमापी के मामले में अंशांकन वस्तुतः कैसे कार्य करता है?"

"ज़रूर।" स्टीवी ने उत्तर दिया। उसकी जिज्ञासा जाग चुकी थी और उसका सारा ध्यान उसके सामने उपस्थित विषय पर केन्द्रित हो चुका था।

"स्टीवी। तुम्हें ग्राफ (मालेख) बनाना आता है?"

"मेरा ख्याल है, आता है।" उसके उत्तर में झिझक नहीं थी। "आप दो रेखाएं खींचिए। एक खड़ी, एक पड़ी। और उन पर संख्याएं अंकित कर दीजिए।"

मैंने कहा, "ठीक है। तो, तुम रेखाएं खींचो और हम अपने तापमापी को अंशांकित करने के लिए ग्राफ बनाएंगे।" इस पर उसने एक कोरे कागज पर दो रेखाएं खींचीं जो एक दूसरे के साथ समकोण बनाती थीं।

मैं स्टीवी से कहता गया, "अब हमें इन रेखाओं के साथ-साथ कुछ संख्याएं लिखते जाना है जो ऊष्मा की मात्रा को और नली में पारे की ऊंचाई को

निरूपित करती जायंगी। ऊष्मा सम्बन्धी संख्याओं को पड़ी रेखा के नीचे और पारे की ऊंचाई सम्बन्धी संख्याओं को खड़ी रेखा के साथ-साथ। हम अपनी संख्याओं को, फुटरूल से नाप कर, एक-समान दूरी पर अंकित करते जाते हैं।

हम ऊष्मा को "अंशों" में तथा पारे की ऊंचाई को "सेण्टीमीटरों" में बताएंगे—प्रत्येक सेण्टीमीटर, एक मीटर का सौवां भाग होता है और एक मीटर होता है लगभग एक गज के बराबर। जब हम संख्याएं अंकित कर चुकेंगे तब हम अपने ग्राफ को वर्गाकृति बना देंगे और फुटरूल से लकीरें खींच कर इसको छोटे-छोटे वर्गों में बांट देंगे ताकि जब हम तापमापी से पैमायशें करें तो हम इस पर उपयुक्त बिन्दुओं को पाते जाएं।"

मैं स्टीवी को बताता गया, "मान लो मैं तापमापी के बल्ब को पानी में डुबोता हूं और पानी को एक अंश तक गर्म करता हूं। फिलहाल इस बात को छोड़ देते हैं कि एक अंश की ऊष्मा ठीक कितनी होती है। वर्तमान प्रयोजन के लिए हम मान लेते हैं कि जल के नीचे एक जलती मोमबत्ती रखने से जल के तापमान में जो परिवर्तन होता है वही ऊष्मा का एक अंश है। हम देखते हैं कि यह एक मोमबत्ती जिसे हम एक अंश कह रहे हैं, एक मिनट के बाद पारे को एक सेंटीमीटर चढ़ा देती है और फिर पारा और ऊपर नहीं चढ़ता। इस बात को हम अपने ग्राफ पर उस बिन्दु द्वारा प्रदर्शित करते हैं जिस पर एक सेंटीमीटर से आने वाली रेखा, एक अंश से आने वाली रेखा को काटती है। अब हम दो बत्तियां पानी के नीचे रख देते हैं। एक मिनट के बाद पारा दो सेंटीमीटर तक चढ़कर ठहर जाता है और हम इस बिन्दु को भी ग्राफ पर अंकित कर देते हैं। इस प्रकार पैमायश करते-करते हम देखते हैं कि ऊष्मा के प्रत्येक अंश के पीछे पारा एक सेंटीमीटर चढ़ता जाता है और जब हम
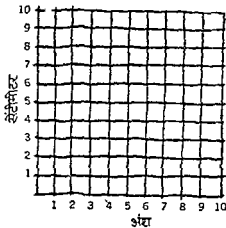
दस अंश माप चुकते हैं तब पारा दस सेंटीमीटर चढ़ चुका होता है। अब हमारा ग्राफ इस प्रकार का बन जाता है और इसमें एक रेखा उन सब बिन्दुओं

को मिला रही है जिन्हें हमने अपने अंशाकन-परीक्षण के दौरान अंकित किया है।

स्टीवी के चेहरे पर एक चमक दौड़ गई। वह बोल उठा, "मैं अब समझ गया। यह सब समझ जाने के बाद मैं अपने तापमापी की नली पर सेंटीमीटरों के निशान लगा सकता हूं और प्रत्येक निशान के साथ एक-एक अंश का अंक लिख सकता हूं और जान सकता हूं कि पारे के प्रत्येक सेंटीमीटर का अभिप्राय कितने अंश होता है।"

"स्टीवी! तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। तुमने बात को बिलकुल समझ लिया है।" मुझे उतना ही आनन्द आ रहा था जितना उस अध्यापक को आता है जिसको बात समझने वाले शिष्य मिल जायं। मैंने आगे बताया, "जब कोई दो चीजें इस प्रकार सम्बन्धित होती हैं तो हम उन्हें "समानुपाती" कहते है और जब उनमें से एक, दूसरी के साथ-साथ बराबर ऊपर उठती है या नीचे गिरती है और उनके ग्राफ में हमारे ग्राफ की सीधी रेखा की तरह रेखा बनती है तब हम उन दोनों चीजों के सम्बन्ध को "अनुक्रमानुपात" कहते है। जिन चीजों को हम माप रहे है अगर वे "परिवर्ती" हो अर्थात्, उनमे से एक नीचे जा रही हो जब कि दूसरी ऊपर उठ रही हो तो हम उनके सम्बन्ध को "व्युत्क्रमानुपात" कहते है। विज्ञान के क्षेत्र मे हम चीजो के सम्बन्धो का पता लगाते है और यह निर्धारित करने का यत्न करते हैं कि क्या एक बात दूसरी को पैदा करती है और अगर करती है तो क्यों करती है।

फिर मैंने बताया, "बहुधा हम सिर्फ यह पता लगा लेते है कि कोई कारण और कार्य सम्बन्धित है कि नही बल्कि यह भी कि वे कैसे सम्बन्धित है। इसके लिए हमे इनमें से एक या दोनो की अवस्थाओं को बदलना पड़ता है और फिर उनके सम्बन्ध का दोबारा अध्ययन करना पड़ता है। जब हम किसी परीक्षण द्वारा परिवर्तनो के ऐसे सम्बन्धो का अध्ययन करते है तो हमे इस बात का पक्का प्रबन्ध करना पडता है कि ये सबंध किसी ऐसी चीज से न बदल रहे हों जो हमें दीख नही रही या जो हमारे ख्याल मे नहीं आई। इस प्रयोजन के लिए हमें, अध्ययनाधीन वस्तुओं के अतिरिक्त, परीक्षण सम्बन्धी हर ऐसी चीज को नियंत्रित रखना पड़ता है जो परिवर्तित हो सकती है या परिवर्तित कर सकती है। परीक्षणों के नियंत्रणों के बारे में तुम्हे एक कहानी फिर कभी सुनाऊगा। यहां तो इसका जिक्र सिर्फ यह बताने के लिए किया है कि किसी परीक्षण मे इसकी भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण होती है।"

स्टीवी के साथ यहा तक पहुंच कर मैंने निर्णय किया कि उसके साथ, तापमापो के अध्ययन मे, एक कदम और आगे बढाया जाय। मैंने कहा "स्टीवी!"

तापमापी के अध्ययन मे हमने जिन सबधो को देखा है वे तभी होते हैं जबकि नली के पारे से ऊपर के भाग मे वायु न (निर्वात) हो। उस अवस्था में हमने देखा है कि दस अंशों के सीमान्तर मे, ऊष्मा के अंशों तथा नली में पारे की ऊचाई के सम्बन्ध अनुक्रमानुपाती है। लेकिन अगर नली के पारे के ऊपर के भाग मे वायु उपस्थित हो तो यह सम्बन्ध क्या होगा ?"

स्टीवी थोडी देर के लिए अपने दिमाग पर जोर डालता रहा। अन्त में बोल पड़ा, "जी, अगर पारे के ऊपर वायु होगी और आप तापमापी के बल्ब को गर्म करेंगे तो ऊपर उठता हुआ पारा, वायु को भींचता जाएगा।"

मैने आनन्दित होकर कहा, "बिलकुल ठीक। लेकिन, ताप के बढने के साथ-साथ, पारे के नली मे चढने की क्षमता पर इसका क्या प्रभाव होगा ?"

स्टीवी चिन्तन के लिए थोड़ी देर रुका। फिर बोला, "मेरा ख्याल है कि दबती हुई वायु भी पारे को वापस धकेलती रहेगी और यह उतना ऊचा नही उठ सकेगा।"

"तुम ठीक कहते हो, बिलकुल ठीक तुमने सारी बात स्पष्ट समझ ली है। आओ, अब अपने ग्राफ पर लौट कर देखो कि क्या तुम ऐसी रेखा खीच सकते हो जो, नली के पारे से ऊपर के भाग में वायु की उपस्थिति मे, ताप तथा पारे की ऊचाई को दर्शा सके।"

मै प्रतीक्षा कर रहा था। मेरी कनपटियो मे नब्ज की रफ्तार तेज होती जा रही थी। पता नही था कि यह बच्चा इस काम को कितना कर
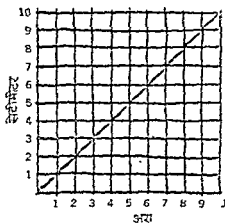
सकेगा। वह अत्यन्त मग्न था। उसका ध्यान ग्राफ पर जमा था। वह अपनी पेंसिल को आड़ी रेखा के साथ-साथ ऊपर की ओर हिला रहा था। कुछ

मिनटों बाद मैंने देखा कि उसने पेंसिल को और जोर से पकड़ लिया है। उसने अपने जिज्ञासापूर्ण नयनों को मेरी ओर जरा-सा घुमाया और अर्ध-विश्वस्त वाणी मे बोला, "मेरी समझ के मुताबिक, उस सूरत मे रेखा इस प्रकार वक्र बनेगी। क्योंकि जितना ही पारा नली मे चढ़ेगा उतना ही वह वायु को भींचेगा और उतना ही वायु का दबाव लौटकर पारे पर चढेगा। परिणाम यह होगा कि पारे की चढाई की दर घटती जायगी। ठीक है ?"
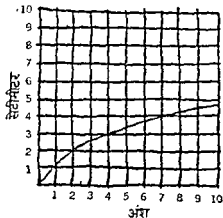
मैं खुशी से चिल्ला उठा, "बेशक! बेशक!! एकदम ठीक है। आज रात तुमने एक बिलकुल नई बात अपने जीवन मे पहली बार देखी है। तुम, न सिर्फ यह देख सके हो कि दो चीजें आपस मे किस प्रकार सबधित होती है बल्कि यह भी कि उनमे से एक मे होने वाला परिवर्तन इस सबंध को बदल देता है। और यह सब तुमने अपने चिन्तन से भी देख लिया है। अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिक के लिए ऐसा कर सकना अत्यन्त आवश्यक है और बात सबके वस की नही होती। यह एक गुण है जो वस्तुत. अच्छे अनुसंधानकर्ताओ को, बाकियो से भिन्न बना देता है। तुमने सब कुछ लिया है कि कैसे अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए, कैसे स्पष्ट f करना चाहिए और भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे पदार्थों के पारस्परिक संबंध को स्वयं कैसे जाचना चाहिए। वैज्ञानिक विधि क्या होती है, इस बारे में तु बहुत कुछ जान गए हो।"

३

अच्छे नियंत्रकों की व्यवस्था

सिर के बीचों बीच तथा मस्तिष्क के पेंदे में एक छोटा-सा क्षेत्र है जो भूख
तथा वृद्धि के नियमन में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। यह क्षेत्र मुख की
छत के ऊपर टिका होता है, इसके दो मुख्य भाग होते हैं जो आपस में सम्बद्ध
[illegible] होते हैं। ऊपरले भाग को हाइपोथेलेमस (अधश्चेतक) कहते हैं और इस स्थान पर
मस्तिष्क का पेंदा इसी से बनता है। इस हाइपोथेलेमस के नीचे की ओर एक
डंडी या तना जाता है जिसकी लम्बाई कुछेक मिलीमीटर होती है। इस डंडी के
अन्त में एक छोटी-सी ग्रन्थि होती है जो आकार और आकृति की दृष्टि से एक
छोटे से अंगूर जैसी होती है। इसे पिट्यूटरी (पीयूष ग्रन्थि) कहते हैं। जो डंडी
इसे, ऊपर की ओर स्थित हाइपोथेलेमस से जोड़ती है उसे पीयूष वृंत कहते
हैं। ठीक-ठीक कहें तो पिट्युइटरी, मस्तिष्क का भाग नहीं होती लेकिन उससे
सम्बद्ध होती है और उसके साथ अनेक प्रकार का घनिष्ठ तालमेल रखकर
कार्य करती है। खोपड़ी के पेंदे की हड्डी में एक छोटी-सी कोठरी होती है।
इस कोठरी को सेल्ला टर्सीका (पल्याणिका) कहते हैं। इसको देखकर प्रार-
म्भिक काल के शरीर-रचना-वैज्ञानिकों को उस "तुर्किस्तानी काठी (पल्याण)"
की याद आ जाया करती थी जिसे लैटिन भाषा में सेल्ला टर्सीका कहते हैं।
मैं पहले तो पीयूष ग्रन्थि संबंधी हुए अनुसंधान की चर्चा करूंगा जिन्हें

भोजन के अन्तर्ग्रहण को एक विशेष विधि से नियंत्रित करना पड़ा था। फिर, बाद में, अनुसंधान के उस दूसरे रूप पर लौट आऊंगा जो बताएगा कि भूख को हाइपोथेलेमस किस विधि से नियमित करता है। अनुसंधान के इन दोनों रूपों में भोजन का अन्तर्ग्रहण, परीक्षणात्मक डिजाइन का महत्त्वपूर्ण भाग बन गया था लेकिन प्रत्येक में बिलकुल भिन्न तरीके से।

पीयूष-ग्रन्थि, बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि यह कई भिन्न-भिन्न रासायनिक पदार्थों—हार्मोनों—को रुधिर-प्रवाह में स्रावित करता रहता है। ये हार्मोन उस दर को नियमित करते हैं जिसमें थायरायड (अवटु), अधिवृक्क, लिंगग्रन्थियाँ आदि कुछ अन्य ग्रन्थियाँ अपने हार्मोन स्रावित करती है। पीयूष-ग्रन्थि, एक और हार्मोन को भी स्रावित करती है; यह शरीर की वृद्धि के नियमन में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है और इस प्रसंग में हमारा वास्ता इसी से पड़ेगा। बौनों की कुछ किस्मों को पीयूष ग्रन्थि का यह वृद्धिकर हार्मोन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता और जिन लोगों को किशोरपन की वर्धमान अवस्था में यह आवश्यकता से अधिक मिल जाता है वे दैत्याकार (अतिकाय) हो जाते है, उनके शरीरो की वृद्धि यथासमय बन्द नहीं हो पाती।

सन् १९२५ में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के डाक्टर पी० ई० स्मिथ ने प्रयोगशाला में रखे सफेद चूहों के शरीर में से पीयूष ग्रन्थि को निकाल देने की सरल सी विधि निष्पन्न कर ली और, इस प्रकार, पीयूष ग्रन्थि के इस वृद्धिकर हार्मोन के बारे में एक नए प्रकार के अनुसधान को सम्भव कर दिया। वह मुख की छत के नीचे की तरफ से, दाँतों मे छेद करने वाले बर्मे के जरिये पल्याणिका तक छेद करने में सफल हो गया और उसने बड़ी आसानी से, दवाइयों के काम आने वाले ड्रापर (बिन्दुपानी) के जरिए, पीयूष ग्रन्थि के ऊतक को चूस कर बाहर निकाल दिया। ध्यान से देखने पर उसे पता लगा कि इस प्रकार इस ग्रन्थि के निकल जाने पर इन प्राणियों के शरीरों की समुचित वृद्धि नहीं हो पाई।

इससे चार बरस पहले, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में एच० एम० ईवान्स तथा जे० ए० लौंग ने पीयूष ग्रन्थि के अपरिष्कृत सारों के इंजेक्शन लगाकर कुछ चूहों को अतिकाय बना दिया था। बाद में यह सिद्ध हो गया कि पीयूष ग्रन्थि को निकाल देने के बाद, ऐसे सारों के इजेक्शन लगाए जायं तो न केवल वृद्धि की सामान्य दर को कायम रखा जा सकता है अपितु इनकी अधिक बड़ी मात्राएं देकर, इन्हीं चूहों को वस्तुत. अतिकाय बनाया जा सकता है।

कैसे पता चले कि इस प्रकार उपचरित प्राणियों की भारवृद्धि, असली वृद्धि की द्योतक होती है? भारवृद्धि तो शरीर में जल या चर्बी की मात्रा के

बढ जाने से भी हो सकती है, लेकिन वास्तविक वृद्धि मे तो कोशिकाओं का विभाजन होता है और शरीर में ऊतक-प्रोटीन की कुल मात्रा, शरीर के जल तथा लवणों के साथ समानुपाती रह कर बढती है। पीयूष ग्रन्थि द्वारा उपचरित इन चूहों के शरीरों के घटकों के नाप-तोल ने सिद्ध कर दिया कि इस प्रकार उनके शरीरो मे जो वृद्धि हुई वह वास्तविक वृद्धि थी। सच तो यह है कि ज्यो-ज्यों उनके शरीर मे प्रोटीन की वृद्धि हुई, उनके शरीर की चर्बी कम होती गई, ऐसा लगता था मानो नए ऊतक बनाने मे लगने वाली ऊर्जा, शरीर की चर्बी के जलने से प्राप्त होती रही है।

बाद मे केलिफोर्निया विश्वविद्यालय मे काम करते-करते ही डाक्टर एच० एम० ईवान्स तथा डाक्टर सी० एच० ली, गोमांस की पीयूष ग्रन्थि में से वृद्धिकर हार्मोन के अतिशुद्ध रूप को पृथक् प्राप्त करने में सफल हो गए। इस प्रोटीन पदार्थ की अति सूक्ष्म मात्राओं के इंजेक्शन से ऐसे चूहों की वृद्धि भी एकदम पुन. चालू हो जाती है जिनकी वृद्धि रुक चुकी होती है। एक मिलिग्राम (ग्राम का हजारवां भाग) प्रतिदिन देने से दस दिन मे एक वयस्क चुहिया का भार दस ग्राम बढ जाता है। जिस चूहे मे से पीयूष ग्रन्थि निकाली जा चुकी है उसको तो भार वृद्धि का यही दर, और भी कम मात्रा से प्राप्त हो जाता है; एक मिलिग्राम का कुछेक हजारवा हिस्सा प्रतिदिन। इस सबसे कुछ आभास मिल जाता है कि वृद्धि को तेज करने वाला पदार्थ कितना शक्तिशाली होता है।

फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वृद्धि के लिए भोजन आवश्यक है। अतः, इस स्थिति मे, अन्वेषक के लिए स्वाभाविक है कि वह भोजन ग्रहण तथा पीयूष ग्रन्थि के हार्मोन के वृद्धिकर प्रभाव के बारे में परीक्षणात्मक प्रश्न पूछे। उसका पहला सवाल यह है: यह हार्मोन प्राणी की भूखमात्र को तेज कर देता है और उसकी वृद्धि इसलिए होती है कि वह अधिक खाने लगता है? या, क्या इस हार्मोन के कारण प्राणी का शरीर, भोजन के उसी परिमाण का अधिक सक्षम उपयोग करने लगता है? इन प्रश्नो का परीक्षणात्मक उत्तर देने के लिए भोजन के अन्तर्ग्रहण को सावधानी से नियन्त्रित करना पड़ता है। यह कैसे किया जाता है?

ऐसा करने के दो तरीके हैं। एक को "सीमा-भरण" कहते हैं; दूसरे को "युगल-भरण"। सीमा-भरण में, परीक्षणकर्ता पहले यह निर्धारित करता है कि कोई अनुपचरित चूहा कितने भोजन को दिनभर में बिलकुल समाप्त करके अपना सामान्य भार कायम रखता है। फिर वह ठीक इतना ही भोजन, उपचरित तथा अनुपचरित सब चूहों को देता है और प्रतिदिन इस बात की पड़-

ताल करता है कि प्रत्येक प्राणी ने अपना सारा भोजन खा लिया है कि नहीं। युगल-भरण की विधि में परीक्षणकर्ता उस भोजन को नाप लेता है जिसे अनुपचरित (नियंत्रक)—समूह के प्राणी दिन नंबर एक में खाते है। दिन नम्बर दो मे वह प्रत्येक उपचरित प्राणी को उतना ही भोजन देता है जितना कि पहले दिन नियत्रक प्राणियों ने खाया था। इस प्रकार उपचरित प्राणी, अपने जोड़ीदार खाने वाले नियंत्रक प्राणियों से एक पीछे होता है; लेकिन एक दीर्घतर अवधि मे दोनों समूह समान परिमाण के भोजन का उपयोग करते रहते है।

पीयूष ग्रन्थि के मारो—या परिष्कृत वृद्धिकर हार्मोन—पर किए गए परीक्षणों में भोजन के अन्तर्ग्रहण को इन दोनों तरीकों में नियन्त्रित किया जाता रहा है। लेकिन, तरीका कोई भी रहा हो, परिणाम एक ही रहा है; भोजन का अन्तर्ग्रहण अपरिवर्तित रहने पर भी, हार्मोन-उपचार के बाद नई वृद्धि हो जाती है। यह एक बहुत बढ़िया तरीके से नियन्त्रित परीक्षण है और हमे एक आश्चर्यजनक बात बताता है। अर्थात्, पीयूष-ग्रन्थि के वृद्धिकर हार्मोन से वृद्धि इसलिए तेज नहीं हो जाती कि प्राणी खाने ज्यादह लगता है बल्कि इसलिए क्योंकि इसके प्रभाव से शरीर, अपने भोजन का अधिक सूक्ष्म उपयोग करने लगता है। हमारे इस कथन का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ?

किसी इजन की "क्षमता" का वर्णन करने के लिए हम बताते हैं अपने कार्य के लिए इसकी ईंधन-ऊर्जा का अनुपात क्या बैठता है और जो ऊर्जा यह ऊष्मा के रूप मे खो देता है उसका अनुपात क्या बैठता है। ऊष्मा के रूप मे नष्ट यह ऊर्जा, मशीन के किसी काम नहीं आती। मानलो, किसी ईंधन के एक गैलन में ऊर्जा की एक हजार कैलोरियाँ है, यह इसकी स्थितिज ऊर्जा है। अगर एक गैलन ईंधन के ज्वलन मे ५०० कैलोरियाँ कार्य की शक्ल मे प्राप्त हों और ५०० ऊष्मा के रूप में, तो इस मशीन की क्षमता पचास-प्रतिशत (५०%) हुई।

शरीर मे नए ऊतक को बनाने का प्रक्रम एक प्रकार का जैविक कार्य होता है। ऊर्जा के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। अगर हम भोजन की अधिकतर कैलोरियाँ इस काम मे लगा सके और इनमे से न्यूनतर को ऊष्मा के रूप मे नष्ट होने दें तो हमारे शरीर की "मशीन" अधिक अच्छी क्षमता से काम कर रही है। यही वह बात है जिसे वृद्धिकर हार्मोन, शरीर के लिए सम्भव कर देता है।

जब चूहे को वृद्धिकर हार्मोन का इन्जेक्शन लगाया जाता है तब परीक्षणकर्ता को इस प्राणी मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते है और वृद्धि के लिए भोजन के इस अधिक सक्षम उपयोग के साथ इन परिवर्तनों का सम्बन्ध

है। सर्वप्रथम परिवर्तनो में से एक यह होता है कि मूत्र में जाने वाले नाइट्रोजन में कमी हो जाती है। नाइट्रोजन, प्रत्येक एमिनो अम्ल का और, अतएव, प्रोटीनों का अंश होता है। ज्यो-ज्यों नई प्रोटीनों का निर्माण होता है, अधिकाधिक नाइट्रोजन शरीर मे संचित होता जाता है और परिणामतः, मूत्र मे निकलने वाली इसकी मात्रा घटती जाती है। शरीर के मोटे भागों से वसा (चर्बी) को यकृत् (जिगर) में पहुंचा दिया जाता है जहाँ इसको ईंधन के एक अतिसूक्ष्म स्रोत के रूप मे जलाया जाता है ताकि वृद्धि के लिए ऊर्जा प्राप्त हो सके। वसा के इस उपयोग का पता लग जाता है क्योंकि रुधिर में वसाम्लो की मात्रा बढ जाती है और शरीर में सचित वसा घट जाती है। शर्करा (खाड) भी एक ऊर्जादायक ईंधन है और वृद्धिकर हार्मोन के इंजेक्शन के बाद रुधिर में शर्करा की मात्रा पहले तो बढ़ती है, फिर, बाद में ज्यो-ज्यों ऊतकों मे शर्करा का उपयोग बढता जाता है, रुधिर मे शर्करा की मात्रा घटती जाती है। ज्यों-ज्यों ऊतक, प्रोटीन निर्माण के लिए एमिनो अम्लों को बरतते जाते है, रुधिर में एमिनो अम्लो की मात्रा घटती जाती है। वृद्धि को नियमित करने वाले, पीयूष ग्रन्थि-हार्मोन सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता लगाने के लिए भोजन के नियत्रित अन्तर्ग्रहण वाले ये परीक्षण आवश्यक हो गए थे।

आओ, अब एक और महत्त्वपूर्ण क्रियाविधि पर नजर डालें। इसका नियमन, पीयूष ग्रन्थि से ऊपर, हाइपोथेलेमस (अवश्चेतक) में होता है। इसका सम्बन्ध भोजन के अन्तर्ग्रहण के नियमन से है, इस बात से नही कि शरीर में भोजन का उपयोग कितनी क्षमता से होता है। हम कितना भोजन लें, इसका निर्देशन दो बिल्कुल भिन्न चीजों से होता है: भूख (हंगर) तथा बुभुक्षा (एपिटाइट)। भूख में, आमाशय के प्रदेश में एक वेदनामय अनुभूति होती है। भोजन के प्रायः तीन घण्टों बाद प्रकट होती है, ऐंठन जैसी अनुभव होती है, लहरों सी उठती है, कुछेक मिनट रहती है, गायब हो जाती है लेकिन जल्दी ही फिर लौट आती है। भूख की संवेदना, कुछ खा लेने से शान्त हो जाती है। बुभुक्षा, इससे बिलकुल भिन्न होती है। यह अत्यधिक जटिल अनुभूति होती है और इसका वर्णन भोजन की सामान्य इच्छा के रूप में किया जाता है। यह एक भावात्मक प्रतिक्रिया होती है जो कि भोजन की गन्ध, दर्शन या उसके चिन्तन मात्र से प्रकट हो जाती है। ऐसा हो सकता है कि बुभुक्षा उपस्थित हो जब कि भूख अनुपस्थित हो; इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि जो लोग भूख से पीड़ित हों और भोजन की आवश्यकता रखते हों, उनमे बुभुक्षा बिल्कुल अनुपस्थित हो। जिन लोगों का आमाशय निकाला जा चुका है, वे भी कभी-कभी बुभुक्षा को अनुभव करते हैं।
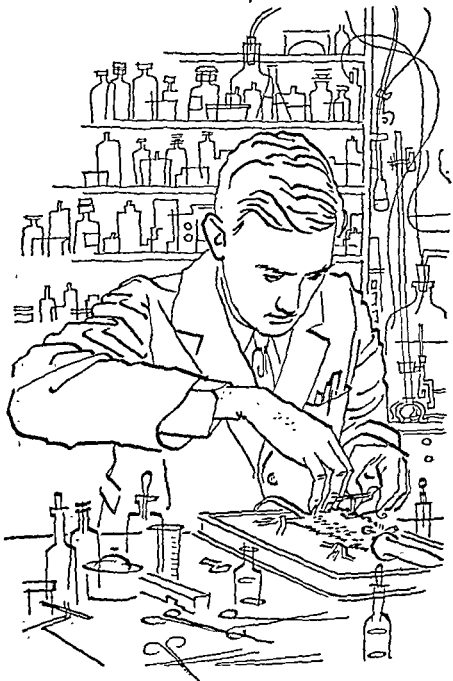
भूख की उत्पत्ति, सीधी आमाशय के सकुचनों से होती है। परन्तु बुभुक्षा की अनुभूति, मस्तिष्क तथा पाचन क्षेत्र की क्रियाओं के अत्यधिक जटिल सम्बन्ध से, मस्तिष्क मे पैदा होती है। बुभुक्षा के सर्वाधिक महत्त्व के, मस्तिष्क स्थित "केन्द्रों" मे से एक, हाइपोथैलेमस मे होता है। हमारे पास इसका क्या सबूत है ? और, इस केन्द्र की क्रियाविधि क्या है ?

इन प्रश्नों के सीधे उत्तर सबसे पहले सन् १९४० में डाक्टर हेदरिंगटन तथा डाक्टर रैंसन नाम के शरीरक्रिया-वैज्ञानिको द्वारा, नार्थवेस्टर्न विश्व-विद्यालय के चिकित्सा-विद्यालय में किए गए परीक्षणों से प्राप्त हुए थे। उन्होंने एक ऐसे चतुर उपकरण का उपयोग किया था जिसे किसी निश्चेतन (बेहोश) प्राणी के सिर पर फिट किया जा सकता था। इसका नाम है स्टीरिओटैक्सिक
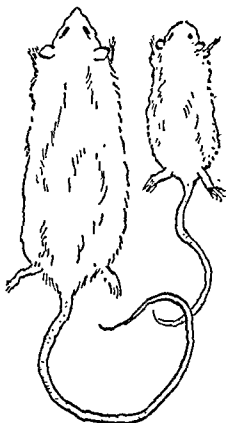
(स्पर्शनियमन) उपकरण। सावधानी से निर्धारित ज्यामितीय समतलों तथा कोणों के उपयोग द्वारा यह परीक्षणकर्ता के लिए सम्भव कर देता है कि

मस्तिष्क के अतिसूक्ष्म क्षेत्रों में, पतली तार के बने सुइयों जैसे इलेक्ट्रोडों (विद्युदग्रों) को निविष्ट किया जा सके। हेदरिंग्टन तथा रैंसन ने अपने इलेक्ट्रोडों को चूहों के हाइपोथेलेमसों में लगा दिया और उनमें बिजली की धारा को प्रवाहित करके हाइपोथेलेमस के बहुत छोटे भागों को नष्ट कर दिया। बाद में, सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) के द्वारा उन्होंने यह भी निर्धारित कर लिया कि यह नष्ट क्षेत्र—क्षत—ठीक-ठीक कौन-सा था। क्षतयुक्त हाइपोथेलेमस वाले इन चूहों में इन्होंने एक उल्लेखनीय परिवर्तन पाया; उनका आकार बहुत बढ़ गया था। कारण था, वसा की वृद्धि। उनका मोटापा मात्र बढ़ गया था, और बहुत बढ़ गया था। क्यों ?

हेदरिंग्टन तथा रैंसन के पैदा किए क्षत काफी बड़े सिद्ध हुए और देखा गया कि इस आपरेशन के बाद उनके चूहे निष्क्रिय से हो गए थे। मोटापा क्रमशः बढ़ता गया और उन्होंने उसका कारण शारीरिक क्रिया की उत्तरोत्तर कमी को ठहराया। प्रत्येक चूहा अब भोजन से उपलब्ध ऊर्जा को शारीरिक श्रम में कम खर्च करता था और उसे वसा के रूप में परिणत कर देता था।

तीन साल बाद, १९४३ में, इन्हीं परीक्षणों को येल विश्वविद्यालय के डाक्टर ब्रोबेक, डाक्टर टेपरमैन तथा डाक्टर लोंग ने दोहराया और परिष्कृत किया। इन अन्वेषकों ने भी हेदरिंग्टन तथा रैंसन की तरह ही चूहों को मोटा करने में सफलता प्राप्त की। फर्क सिर्फ यह रहा कि हाइपोथेलेमस में इनके बनाए क्षत इतने बड़े नहीं थे और इन प्राणियों की क्रियाशीलता में उतनी कमी नहीं आई। उन्होंने एक बात देखी जो हेदरिंग्टन तथा रैंसन के देखने में नहीं आई थी—आपरेशन के बाद इन चूहों ने भोजन ज्यादह खाना शुरू कर दिया था; कुछ चूहे तो सचमुच, पूरी बेहोशी दूर होने से पहले ही भोजन तड़पने लग गए थे।

ब्रोबेक तथा उनके सहयोगियों ने पता लगा लिया कि बुभुक्षा में यह वृद्धि तब होती थी जबकि उनका किया हुआ क्षत बहुत छोटा-सा तथा हाइपोथेलेमस के मध्य भाग के निचले हिस्से में होता था। उनके चूहों को जितना भोजन मिलता उतना ही वे खा जाते थे; अपनी शारीरिक आवश्यकताओं से बहुत अधिक खा जाते थे; भार में पाँच सौ या छः सौ ग्राम तक पहुँच जाते थे, जबकि प्रेक्षणाधीन सामान्य चूहे एक सौ या दो सौ ग्राम तक ही पहुँच पाते थे। अब एक महत्त्वपूर्ण प्रेक्षण किया गया। जब इन क्षत-चूहों का भोजन उतना सीमित कर दिया गया जितना प्रेक्षणाधीन सामान्य चूहे खाते थे तो क्षत-चूहों का शरीर-भार बिलकुल सामान्य बना रहा। इससे सिद्ध हुआ कि इन क्षत-हाइपोथेलेमस वाले चूहों की, भोजन-ऊर्जा के उपयोग सम्बन्धी विधि में कोई

ऐसा परिवर्तन नही हुआ था जैसा कि वृद्धिकर हार्मोन से उपचरित चूहों में हो गया था। इनकी बुभुक्षामात्र बहुत बढ़ गई थी और वे खा-खा कर मोटे हो रहे थे, ठीक ऐसे ही जैसे अपनी जरूरत से ज्यादा खाने वाला कोई भी व्यक्ति हो जाता है।

भोजन के अन्तर्ग्रहण को नियन्त्रित करके किए गए इन रोचक परीक्षणों ने सिद्ध कर दिया कि हाइपोथेलेमस के मध्यभाग के निचले हिस्से में एक ऐसा क्षेत्र है जिसका बुभुक्षा के नियन्त्रण से कुछ सम्बन्ध है। तो, क्या इसका मतलब यह है कि मस्तिष्क मे कही कोई और क्षेत्र ऐसा भी है जो बुभुक्षा को उद्दीपित करता रहता है मगर, सामान्यतः, इस मध्यक्षेत्र द्वारा मर्यादा में रखा जाता है ? ऐसा है तो इस मध्य क्षेत्र के नाश से वह दूसरा "बुभुक्षा-केन्द्र" स्वतंत्र हो जाता होगा और बुभुक्षा को अमर्यादित रूप से उद्दीपित करता रहता होगा।

आगे के अनुसधान ने इस विचार को सम्पुष्ट कर दिया। डाक्टर ब्रोबेक के साथ काम करने वाले एक भारतीय शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक, डाक्टर आनन्द ने हाइपोथेलेमस के पार्श्व के बाह्य भाग में क्षत पैदा किए और देखा कि इन प्राणियो ने भोजन करना बिलकुल ही छोड दिया। आमाशय मे डाली नली के जरिए खाना पहुचाकर उन्हें जिन्दा रखा जा सकता था लेकिन अपने आप खाने से वेएकदम इंकारी थे। उनकी बुभुक्षा बिलकुल मर चुकी थी और अगर उन्हें आमाशय-नली द्वारा नही खिलाया जाता था तो वे अनशन के कारण मर जाते थे। डाक्टर आनन्द ने आगे चलकर यह भी सिद्ध कर दिखाया कि मध्य-हाइपोथेलेमस-केन्द्र को बिजली द्वारा उद्दीपित किया जाता है तो प्राणी कम खाने लगता है और पार्श्व भाग को उद्दीपित किया जाता है तो वह अधिक खाने लगता है।

इस प्रकार, बुभुक्षा के उद्भव का स्पष्टतर चित्र उभरने लगा। मस्तिष्क के हाइपोथेलेमस मे उपस्थित ये दो "केन्द्र" परस्पर क्रिया करते रहते है और बुभुक्षा (भोजन की इच्छा) तथा सतृप्ति (पर्याप्त भोजन कर लेने से होने वाली अनुभूति) के बीच संतुलन पैदा करते रहते है। जब उन दोनों मे से एक या दूसरा किसी कारण असतुलित हो जाता है तो बुभुक्षा बढ़ जाती है या घट जाती है और लोग बहुत मोटे या पतले हो जाते हैं।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के डाक्टर जीन मेयर का विचार है कि ये "भरण-केन्द्र, रुधिर में उपस्थित शर्करा की मात्रा से प्रभावित होते रहते है। रुधिर में उपस्थित कोई-न-कोई पदार्थ उन्हें उद्दीपित या दमित तो अवश्य करता है और, फिलहाल, रुधिर-शर्करा सम्बन्धी विचार से अच्छा कोई सुझाव सामने नही है। ज्यो-ज्यो कमरे का ताप बढता या घटता है, हमारे घरों में लगा हुआ ताप-

स्थापी (थर्मोस्टेट), भट्टी को स्वतः बन्द या चालू कर देता है। मेयर का विचार है कि ठीक ऐसे ही ये बुभुक्षा-केन्द्र भी "शर्करास्थापी (ग्लूकोस्टेट)" के तौर पर काम करते है, प्रकृति द्वारा शरीर के लिए निर्धारित किसी आदर्श स्तर से रुधिर-शर्करा के बढ़ने या घटने के साथ-साथ ये बुभुक्षा को—और, इस प्रकार, भोजन के अन्तर्ग्रहण को—बढाते या घटाते रहते है।

लगभग तेरसठ साल पहले की बात है। डाक्टर एलफ्रेड फ्रोलिक के विएना स्थित कार्यालय मे एक लड़का था जो बहुत मोटा होता जा रहा था। उसके नितम्बो (चूतड़ों) तथा छाती (स्तनो) में वसा जमा होती जा रही थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसकी आकृति, अधिकाधिक, स्त्री जैसी होती गई। डाक्टर फ्रोलिक ने ढूढ निकाला कि उस लडके के मस्तिष्क के पेंदे मे स्थित पीयूषग्रन्थि में एक अर्बुद (रसौली) था, और यह भी कि उसकी बुभुक्षा बहुत अधिक थी। फ्रोलिक ने निष्कर्ष निकाला था कि उस लडके के मोटापे का कारण, पीयूष-ग्रन्थि का अर्बुद था। जिस अनुसंधान का विवेचन मैं ऊपर कर आया हूँ उससे हम समझ सकते है कि हाइपोथेलेमस का जो भाग यह संकेत देता है कि पर्याप्त भोजन किया जा चुका है, उसके नष्ट हो जाने के परिणाम-स्वरूप किया गया अतिभोजन उस लडके के मोटापे का कारण था। जनाना ढग के मोटापे का कारण शायद यह था कि पीयूष ग्रन्थि के अर्बुद की कोशिकाएं जनाना हार्मोनो को अपसामान्य मात्राओ में स्रावित कर रही थी। उस लड़के की पीयूष ग्रन्थि का आकार बढ़ रहा था, लेकिन सेला टर्सीका (पल्याणिका) की अस्थिमय रचना के कारण यह नीचे को नही फैल पाती थी और इसे ऊपर की ओर बढना पडा। ऐसा करने मे इसका दबाव, अपने ऊपर स्थित हाइपोथेलेमस पर पड़ा और उसके कारण जो पहला परिवर्तन सामने आया वह था बुभुक्षा की वृद्धि और मोटापन। प्रकृति ने, रोग के द्वारा, हाइपोथेलेमस मे ऐसा ही क्षत पैदा कर दिया था जैसा कि अनुसधानकर्ताओं ने इलेक्ट्रोडों द्वारा किया। हेर्दरिंग्टन, ब्रोबेक, टेप्परमैन तथा लौंग ने ये नियन्त्रित परीक्षण न किए होते तो इस स्थिति का असली रूप समझा नही जा सकता था।

अर्जेन्टाइना मे डाक्टर बर्नार्डो हूसे ने देखा कि जब उसने मधुमेह से पीड़ित कुत्ते की पीयूष ग्रन्थि निकाल दी तो मधुमेह तकरीबन गायब हो गया। हमे ज्ञात है कि सामान्य प्राणी मे से पीयूष ग्रन्थि निकाल दी जाय तो बुभुक्षा नष्ट हो जाती है। हूसे के परीक्षण ने मधुमेह की अवस्था को शायद इसी वास्ते सुधार दिया था कि उस प्राणी ने खाना ही बन्द कर दिया था। अगर हूसे इस सम्भावना को विचार मे न लाता और इसे नियन्त्रित न करता तो

कैसे जाल में फंस जाता। लेकिन उसने यह सब किया। भोजन की सामान्य मात्रा के देने पर भी उसके मधुमेही कुत्तों को, पीयूषग्रन्थि के निकाले जाने से लाभ हुआ। डाक्टर लौंग तथा डाक्टर ल्यूकन्स ने सिद्ध किया कि परीक्षणाधीन जानवरों की एड्रिनल (अधिवृक्क) ग्रन्थियों को निकाल देने से भी मधुमेह में लाभ होता है। उन्होंने भोजन के अन्तर्ग्रहण को विचार मे लिया क्योंकि अधिवृक्क ग्रन्थियों के बिना भी प्राणी लोग, भोजन खाना प्रायः बिलकुल छोड़ देते हैं।

सो, नियत्रक ऐसी चीजें हैं जिनकी चिन्ता परीक्षणकर्ता को परीक्षण का मूल डिजाइन बनाते वक्त भी करनी पड़ती है और फिर अपने परिणामों की व्याख्या करते वक्त भी। उसे अपने आपसे पूछना पड़ता है, "इन परिणामों की मेरी व्याख्या वास्तविक है या कि मैं जो कुछ देख रहा हूं वह एक गौण क्रिया *मात्र है जिसका मेरी व्याख्या से कोई सम्बन्ध नही है?"* अनुसधान में, इन सम्भावनाओं पर ध्यान देने के लिए सूक्ष्मतम प्रकार की कल्पनाशक्ति की और उसके कुशल प्रयोग की आवश्यकता होती है।

४

अवसर-लाभ-क्षमता

जब अन्वेषक के मन में कोई विशिष्ट प्रश्न उठता है, अनुसंधान का कार्य तो तभी शुरू हो जाता है। बाद में जितने परीक्षण होते हैं उन सब को इसी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की दृष्टि से डिजाइन किया जाता है। लेकिन कभी-कभी अपने रास्ते चलता हुआ वैज्ञानिक कोई ऐसी चीज पा जाता है जो उसकी मनोनीत चीज से बिलकुल भिन्न होती है; कभी-कभी दैवयोग से पता लगी ये चीजें उस चीज के बराबर महत्त्व की या उससे भी अधिक महत्त्व की सिद्ध होती हैं जिसके लिए खोज शुरू की गई थी। वैज्ञानिक को हर वक्त चौकस रहना होता है ताकि वह इन अनाशंसित घटनाओं को पहचान सके और, बजाय इसके कि वह उनको परीक्षणात्मक तकनीक या डिजाइन की "गलतियाँ" मान ले, उनके असली महत्त्व को जान सके।[1]

---

१. घुणाक्षरन्याय या दैवयोग से हाथ लगी इन खोजों का नाम, अंग्रेजी में, "सीरन्दीपिटी" पड़ गया है। इस शब्द का इतिहास भी रोचक है। इसका उद्भव अरबी भाषा के "सीरन्दीब" से हुआ है जिसका अर्थ है सीलोन या श्रीलंका। सीरन्दीब की व्युत्पत्ति प्राचीन संस्कृत भाषा के दो शब्दों से हुई है: सिंहल, जिसका अर्थ है सिंहली भाषा या लंका की भाषा तथा द्वीप। संस्कृत मे श्रीलंका का उल्लेख, सिंहल द्वीप के तौर पर होता रहा है। जब इंग्लैंड के उपन्यासकर होरेस वालपोल ने सीरन्दीप के तीन राजकुमारों की कहानी का उल्लेख किया था तब उसने 'सीरन्दीपिटी' शब्द को गढ़ा था। अपनी यात्राओं के दौरान ये राजकुमार सदा ही दैवयोग से या चतुराई से ऐसी बातों का पता लगाते रहते थे जिनकी उन्हें मूलतः तलाश नही थी। इस प्रकार शुरू होकर, वालपोल का यह शब्द अब आम इस्तेमाल मे आ गया है। (मूल पुस्तक में इस अध्याय का शीर्षक भी यही है)।

अनुसंधान के क्षेत्र में इस प्रकार के घुणाक्षर न्याय के कई उदाहरण हैं। लेकिन इनमें जो सबसे बढ़िया हैं उनमें से एक है डेन्मार्क के जीवरसायनज्ञ हेनरिक डैम द्वारा विटामिन-के का आविष्कार। इसकी कहानी कोपनहेगन में, १९२८ में शुरू होती है। डाक्टर डैम की दिलचस्पी कोलेस्टरोल नाम के वसा-तुल्य पदार्थ में थी। यह पदार्थ, मक्खन, अण्डों तथा कतिपय अन्य वसामय पदार्थों में पाया जाता है। यह रुधिर द्वारा परिसंचारित होता है और चूंकि धमनियों के कठोर होने के प्रक्रम के साथ इसका सम्बन्ध सम्भावित है अतः आजकल यह विशेष दिलचस्पी का सामान बन गया है। डाक्टर डैम यह जानना चाहता था कि अगर भोजन के जरिए कोलेस्टरोल बिलकुल हासिल न हो तो भी क्या प्राणी, अपने शरीर में विद्यमान अन्य रासायनिक पदार्थों से अपने लिए कोलेस्टरोल बना सकते है।

अपने परीक्षणों के लिए वह ऐसे चूजों का उपयोग करता था जिनके राशन में कोलेस्टरोल बिलकुल नही रहने दिया जाता था। उसकी योजना थी कि इनके रुधिर के कोलेस्टरोल की सान्द्रता (मात्रा) को माप कर उसकी उन चूजों के रुधिर में की कोलेस्टरोल-संघनता से तुलना करे जिनको वही, मगर कोलेस्टरोल से युक्त, आहार मिलता था। जिन आहारों का वह उपयोग करता था वे बिलकुल कृत्रिम होते थे, अर्थात्, वे दुग्ध-प्रोटीन, शर्करा, वानस्पतिक तेल, खनिजो तथा ज्ञात विटामिनों को मिलाकर बनाए जाते थे।

परीक्षणों के दौरान डाक्टर डैम का ध्यान...बिलकुल दैवयोग से...एक विचित्र बात पर पडने लगा। उसके जिन चूजों को कोलेस्टराल-विहीन आहार पर पाला जा रहा था उनकी त्वचा के नीचे, पेशियों में तथा अन्य अंगों में रक्तस्राव होने लगे थे। कृत्रिम आहार मे सब ज्ञात विटामिनें तथा भोजन के अन्य भाग शामिल थे, फिर भी ऐसा होता रहा।

शीघ्र ही पता लग गया कि इन चूजों के रक्त का थक्का बनने में अधिक देर लगती थी। यह तो ज्ञात था कि विटामिन-सी के अभाव में पैदा होने वाले स्कर्वी रोग मे जरा सी बात पर रक्तस्राव भी होने लगता है। अतः डाक्टर डैम ने अपने चूजों पर विटामिन-सी का प्रयोग करके देखा लेकिन इससे रक्तस्राव बन्द नही हुआ। आहार में कोलेस्टरोल की अनुपस्थिति इसका कारण नही हो सकता था क्योंकि अब तक वह यह सिद्ध कर चुका था और इसमे शक की गुंजायश नही रह गई थी कि चूजे अपने लिए कोलेस्टरोल का निर्माण अपने शरीर मे ही करते है। इस प्रकार मूलतः जिस प्रश्न को लेकर वह चला था उसका उत्तर उसे मिल चुका था।

इसके बाद उसने गेहूँ के अंकुर के तेल तथा मछली के तेल का प्रयोग
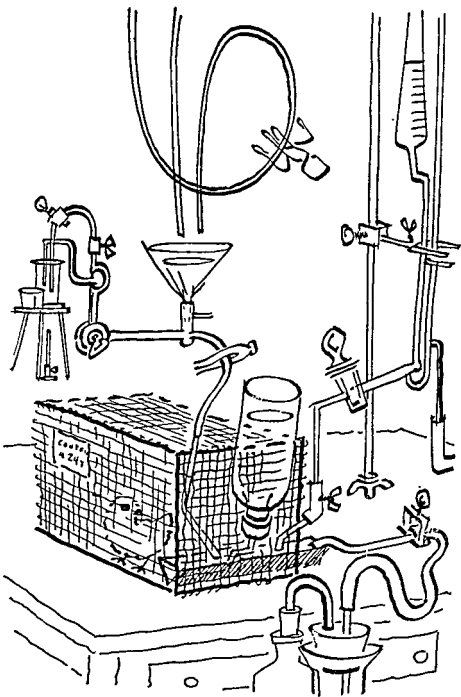
किया। ये दोनों चीजें ए, डी तथा ई विटामिनों की उत्कृष्ट स्रोत होती है, जब वसा-निष्कर्षण प्रक्रियाओं के द्वारा आहार को कोलेस्टरोल-विहीन किया गया था तब ये विटामिनें भी निकल गई थी। ये तेल भी खून बहने की बीमारी से रक्षा नही कर सके। आखिरकार डाक्टर डैम तथा उसके सहयोगियों को पता चल गया कि इस रक्तस्राव से बचाने का एकमात्र उपाय यह है कि अनकुटा अनाज तथा कतिपय हरी सब्जियो के पत्तो को उस कृत्रिम आहार मे शामिल किया जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि इन पदार्थो मे से किसी के जरिए भोजन का कोई ऐसा घटक दिया गया था जो उसके चूजों की रक्षा कर रहा था। यह पदार्थ, मानव के ज्ञान मे उस समय तक आए पदार्थो मे से कोई नही था अतः डाक्टर डैम को पक्का यकीन हो गया कि उसने दैवयोग से एक नई विटामिन का पता लगा लिया है। उस पदार्थ की सिर्फ इन विशेषताओं का उसे ज्ञान हो सका था : यह वसाओं के साथ ही भोजन से निकल गया था, यह मछली के तेल या गेहूँ के अकुर के तेल मे नही होता, और, रुधिर का थक्का बनाने मे यह कोई महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता है।

यह सब १९३४की बात है। तब इस अनुसंधान को प्रारम्भ हुए लगभग छह वर्ष बीत चुके थे। बाद मे डैम को शीघ्र ही पता लग गया कि यह विटामिन अनकुटे अनाज और पत्तों वाली हरी सब्जियों मे ही नही होती, टमाटरों मे भी होती है और कतिपय मांसों मे भी होती है, विशेषत. सूअर के जिगर (कलेजी) मे। सन् १९३५ मे डाक्टर डैम ने खून का थक्का बनाने वाले इस नए पदार्थ को विटामिन-के का नाम दिया। रोमन वर्णमाला का अक्षर "के" अभी तक किसी विटामिन के लिए उपयोग मे नही आ रहा था और उसने इसे इसलिए चुना क्योंकि डेन्मार्क की भाषा में "कोएगुलेशन" (थक्का जमना) का अक्षर-विन्यास रोमन वर्णमाला के अक्षर "के" से प्रारम्भ होता है ("सी" से नही, जैसा कि अग्रेजी मे होता) है।

यह अनुसधान अब दो समस्याओं पर केन्द्रित हो गया। प्रथम : इस विटामिन को शुद्धरूप मे पृथक् प्राप्त करना तथा इसके रासायनिक रूप को ठीक-ठीक निर्धारित करना। दूसरी : इस बात को समझना कि रुधिर के जमने के सामान्य प्रक्रम मे यह कैसे योग देता है। जब डाक्टर डैम तथा उसके सहयोगियो ने, ऐल्फ़ैल्फा घास के सूखे पत्तो से निकाले गए एक पीले तेल के रूप मे इस विटामिन के शुद्ध रूप को प्राप्त कर लिया तब प्रथम समस्या तो डाक्टर डैम की अपनी प्रयोगशाला में ही शानदार तरीके से सुलझ गई। इसके कुछ ही काल बाद डाक्टर डोयसी तथा डाक्टर फीसर ने इस विटामिन-अणु की संरचना को ठीक-ठीक निर्धारित कर दिया; ये दोनों जीव रसायन के विशेषज्ञ थे

और संयुक्तराज्य अमेरिका की पृथक्-पृथक् प्रयोगशालाओं में काम करते थे। यह अणु, रासायनिक पदार्थों के नेफ्थोक्विनोन कहलाने वाले वर्ग का सिद्ध हुआ। अब तो कृत्रिम नैफ्थोक्विनीन भी बना लिए गए है जिनकी रुधिर का थक्का बनाने सम्बन्धी क्रियाशीलता नैसर्गिक विटामिन के मुकाबले कही अधिक है।

विटामिन-के कैसे काम करती है, यह समस्या भी अंशतः हल हो चुकी है। रुधिर मे घुली हुई एक प्रोटीन होती है; नाम है फाइब्रिनोजन। जब रुधिर जमता है तो फाइब्रिनोजन के ये छोटे-छोटे अणु आपस में जुड कर लम्बी-लम्बी शृंखलाएं बना लेते है, जो अपने घुले हुए रूप को छोडकर, फाइब्रिन कहलाने वाले, सुई की शक्ल के लम्बे-लम्बे क्रिस्टलो का रूप धारण कर लेती हैं; ये ही आपस मे गुंथ कर जैली जैसा थक्का बन जाती हैं। घुले हुए फाइब्रिनोजन-अणु मिल कर अनघुली फाइब्रिन बन जायें, इसके लिए रुधिर मे प्रोथ्रोम्बिन नाम के एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ की आवश्यकता होती है। यह यकृत् में बनता है और वहा से रुधिर मे मिलता है। डाक्टर डैम ने देखा कि जिन चूजो मे विटामिन-के की न्यूनता होती है उनके रुधिर मे प्रोथ्रोम्बिन बहुत कम होता है और इसलिए वह जम नही पाता। यह भी देखा कि अगर वह आहार मे विटामिन-के की मिला देता है तो रुधिर मे प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा बढ़ जाती है और रुधिर ठीक से जमने लगता है।

अनेक अध्ययन सिद्ध कर चुके है कि इस विटामिन-के-प्रभाव के लिए यकृत् आवश्यक होता है। अगर इन हीन चूजो से निकाले हुए रुधिर मे यह विटामिन सीधी मिला दी जाय तो इसमे प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा नही बढती। फिर, न्यूयार्क के कुछ डाक्टरों ने सिद्ध कर दिया कि यकृत्-हीन कुत्तों को दी गई विटामिन-के, रुधिर में प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा को प्रभावित नही करती लेकिन यकृत् की उपस्थिति मे कर देती है। अत, भोजन के साथ शरीर मे जाने वाली विटामिन-के, छोटी आंत से अवशोषित होकर रुधिर धारा के रास्ते यकृत् मे पहुंचती है और वहां, किसी न किसी तरह, रुधिर जमाने वाले महत्त्वपूर्ण पदार्थ प्रोथ्रोम्बिन के निर्माण मे यकृत् की सहायता करती है।

घुणाक्षरन्याय के उदाहरण, विटामिन-के के इस दैवयोगात्मक आविष्कार ने, तथा इस ज्ञान ने कि प्रोथ्रोम्बिन के उत्पादन मे अपना रोल अदा करके विटामिन-के किस प्रकार रुधिर के जमने को प्रभावित करता है, शरीर क्रिया विज्ञान तथा चिकित्सा शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है। आओ, कुछ उदाहरण देखें।

कभी-कभी लोगो की त्वचा पर तथा आंखों के श्वेतपट पर भूरा-सा-हरा रग प्रकट हो जाता है। इस अवस्था को कामला (पीलियर) कहते है। इसका

कारण होता है रुधिर की लाल कणिकाओं के, आक्सीजन ढोने वाले रंग—हीमोग्लोबिन—के टूटे-फूटे रूपों का ऊतकों में बैठ जाना। सामान्यतः ये रूप, यकृत् के रास्ते, पित्त के साथ आंत्र में उत्सर्जित कर दिए जाते हैं। अगर रुधिर की लाल कणिकाओं की टूट-फूट अत्यधिक हो रही है या पित्त का, यकृत् से आंत्र की तरफ बेरोकटोक जाने का मार्ग अवरुद्ध है तो ये हरे-से-भूरे रंग, शरीर के ऊतकों में निक्षिप्त हो जाते है और कामला प्रकट हो जाता है।

शल्यचिकित्सकों को चिरकाल से ज्ञात है कि कामला वाले कतिपय रोगियों पर शल्य कर्म करना खतरनाक होता है क्योंकि आपरेशन के समय चाकू से उनके ऊतकों को काटा जाता है तो उनका रक्त स्राव नियंत्रित नही होता और भूतकाल में ऐसे कई व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है। अब, विटामिन-के का आविष्कार हो चुका है और ऐसी आशंका नही होनी चाहिए।

विटामिन-के एक तैल-पदार्थ है। और, आंत्र से अवशोषित होने के लिए, अन्य वसाओं या तैलों की तरह, यह भी पित्त की उपस्थिति की अपेक्षा रखता है। अगर यकृत् से आंत्र की ओर जाने वाले पित्तमार्ग अवरुद्ध हों तो पित्त आंत्र तक पहुँच ही नहीं पाता और भोजन के साथ आया हुआ—या आंतड़ियों में ही जीवाणुओं द्वारा निर्मित—विटामिन-के, आंत्र से अवशोषित नही हो सकता और यकृत् तक पहुंचाया नही जा सकता। इसी कारण यकृत् मे बन कर आने वाला प्रोथ्रोम्बिन कम पड़ जाता है और रुधिर ठीक से जमता नही। आजकल जब कोई डाक्टर ऐसे मरीजो को देखता है जिसके पित्तमार्गों मे अवरोध है और जो कामला से पीड़ित है तो वह उसका अवरोध दूर करने के लिए तब तक आपरेशन नही करता जब तक वह उसके रुधिर मे उपस्थित प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा को जाँच नही लेता और विटामिन-के के इंजेक्शन लगाकर थक्का बनने मे लगने वाले समय को सामान्य तक नही ले आता। इसके बाद वह आपरेशन करता है और उसे तसल्ली होती है कि मरीज को ठीक करने के लिए जो चीरा लगाया जायगा उसमे से इतना खून नही बहेगा कि मरीज ही मर जाय।

कभी-कभी, कुछेक बच्चों में, जन्म के कुछ ही दिनों बाद बात-बात पर खून बहने लगता है; यह देखा गया है कि ऐसे बच्चों के खून में प्रोथ्रोम्बिन बहुत थोड़ा होता है। विटामिन-के, उनमे प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा को सामान्य कर देता है। यहां विचित्र बात यह होती है कि उनके पित्त प्रवाह या यकृत् मे कोई दोष नही होता; कारण होता है उनकी आंतड़ियो मे जीवाणुओ का अभाव। वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि आंत्र में रहने वाले सामान्य

लाभकर जीवाणु, हमारे लिए विटामिन-के का निर्माण करते हैं और इस प्रकार हमारी आवश्यकताओं को, आंशिक तौर पर ही सही पूरा करते रहते हैं—चाहे भोजन के साथ आई विटामिन-के की मात्रा कम ही हो। जन्म के कुछ दिन बाद तक बच्चों की आंतड़ियों में जीवाणु बिल्कुल नहीं होते। इसलिए उनको विटामिन-के की सप्लाई, जन्म से पहले माता के शरीर से तथा जन्म के बाद माता के दूध से ही प्राप्त हो पाती है। बच्चे की अपनी आंतड़ियों में जीवाणुओं की अच्छी फसल हो जाने से पहले अगर इन स्रोतों से मिली विटामिन-के काफी नहीं होती तो रक्तस्राव की प्रवृत्ति प्रकट हो जाती है और इसे नवजात शिशुओं का रक्तस्राव रोग कहते हैं। लेकिन, आजकल, विटामिन-के सम्बन्धी अपने ज्ञान के आधार पर हम माताओं को, शिशु-जन्म से पहले, इस विटामिन की फालतू मात्राएं दे सकते हैं और इस रक्तस्राव-रोग का, जो किसी ज़माने में एक खतरा भी होता था, पहेली भी, आसानी से निवारण कर सकते हैं।

कभी-कभी जब सल्फा वर्ग की या पेनिसिलिन-जैसी ओषधियां लम्बे अर्से तक मुंह के रास्ते दी जाती हैं—विशेषतः बच्चों को या उन व्यक्तियों को जिनका आहार पर्याप्त नहीं—तब आंतड़ियों के ये आवश्यक तथा उपयोगी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में, विटामिन-के की पर्याप्त मात्राएं न दी जायें तो इस विटामिन की हीनता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि इसको बनाने वाले जीवाणु पर्याप्त संख्या में नहीं रहते। जब डाक्टरों ने, शुरू-शुरू में, उन लोगों में ऐसा होते देखा जो अन्यथा सामान्य थे तो वे तब तक उलझन में पड़े रहे जब तक किसी ने इसका विटामिन-के की कहानी के साथ सम्बन्ध समझ नहीं लिया। अन्य दृष्टियों से लाभदायक चिकित्सा के इस उपद्रव का अब निवारण किया जा सकता है और यह हो भी जाय तो इसे झट पहचाना जा सकता है और विटामिन-के के इंजेक्शन देकर दुरुस्त किया जा सकता है।

आविष्कार की एक और कहानी है जो विटामिन-के के अध्याय से सम्बद्ध है। विस्कोसिन विश्वविद्यालय के डाक्टर कार्ल लिंक के परीक्षणों की एक भव्य शृंखला ने, उसकी जाच के मूलतः असम्बद्ध परिणामों को डाक्टर डैम के निष्कर्षों के साथ मिला दिया था। डाक्टर लिंक, पशुओं में होने वाले एक रक्तस्राव-रोग पर खोज कर रहा था। यह रोग बिलकुल रहस्य बना हुआ था और प्रतिवर्ष विस्कोसिन के, लिंक की प्रयोगशाला के पास स्थित फार्मों के पशुओं की भारी बलि ले लिया करता था।

डाक्टर लिंक ने जल्दी ही पता लगा लिया कि इस रक्तस्राव-रोग का,

मीठी तिनपतिया घास (स्वीट क्लवर) की खराब भूसी के भक्षण के साथ कुछ सम्बन्ध है। उसने तत्काल इस घास की खराब भूसी के सार तय्यार किए, उनके इंजेक्शन तन्दुरुस्त गौग्रों को लगाए और इस रक्तस्राव-रोग को उत्पन्न कर लिया। उसने पाया कि इन गौग्रो के रुधिर में प्रोथ्रोम्बिन कम हो गया था, ठीक ऐसे ही जैसे कि विटामिन-के की हीनता में हो जाता है। उसने चिन्तन किया। तिनपतिया घास, सामान्यतः विटामिन-के का उत्कृष्ट स्रोत होती है। तो, क्या जब यह खराब हो जाती है, इसमें कोई ऐसा पदार्थ पैदा हो जाता है जो विटामिन-के की हीनता को उत्पन्न कर देता है ?

इस प्रश्न से प्रेरित होकर डाक्टर लिंक ने खराब तिनपतिया घास के अपने सार को शुद्ध किया और, आखिरकार, उसमें से एक ऐसा शुद्ध पदार्थ पृथक् कर लिया जो ढोरों में, कतिपय अन्य प्राणियों में और मानव में भी रक्त-स्राव पैदा करने की भारी क्षमता रखता था। उसने इस नए पदार्थ का नाम रखा डाइकूमेरोल और घोषणा कर दी कि ढोरों के रक्तस्राव-रोग के कारण का पता लग गया है।

लेकिन कहानी यहाँ खतम होने वाली नही थी। शीघ्र ही यह पदार्थ जो कि ढोरों के लिए इतना विषैला था, मानव के लिए लाभदायक बना दिया गया। लिंक ने यह सिद्ध कर दिया कि डाइकूमेरोल, यकृत् मे प्रोथ्रोम्बिन के निर्माण को उद्दीपित करने की विटामिन-के की क्षमता को अवरुद्ध कर देता है। उसने यह भी पता लगा लिया कि विटामिन-के की भारी मात्रा, डाइ-कूमेरोल की विटामिन-के-विरोधी क्रिया को अवरुद्ध कर सकती है।

यह तो बड़ा सौभाग्य रहा। डाक्टर लोगों की प्रायः इच्छा रहती है कि वे—जान बूझकर—ऐसे लोगों के खून का थक्का बनने की क्षमता को कम कर सकें जिनकी शिराग्रों मे थक्के बन जाते हैं। डाइकूमेरोल के आविर्भाव तक इस मतलब के लिए सिर्फ हेपेरिन नाम की औषध उपलब्ध थी; डाक्टर लोग इसका उपयोग करना पसन्द नहीं करते क्योंकि इसकी अत्यधिक मात्रा से कभी-कभी जो रक्तस्राव हो जाता है उसको वे आसानी से बन्द नही कर सकते। लेकिन अब, डाइकूमेरोल के कारण रक्तस्राव हो भी जाय तो हमें विटामिन-के देने के अलावा कुछ करना नही पड़ता और डाक्टर लोग एक नाजुक स्थिति मे, पहले की अपेक्षा अधिक आश्वस्त रहने लगे है।

जब राष्ट्रपति आइजनहावर को तथा राष्ट्रपति (उस समय, सेनेटर) जान्सन को दिल के दौरे पड़े थे तो, बाद मे, उनको डाइकूमेरोल औषध दी गई थी ताकि उनके हृदय, मस्तिष्क या फेफड़ों में और कोई थक्के बनने की आशंकाएं कम हो जायें। एक तरफ डाइकूमेरोल और दूसरी तरफ विटामिन

डा० लिंक विस्कौंसिन में

के होने के कारण, शिराओं मे रुधिर के थक्के बनने का इलाज कराने वाला मरीज, जिन्दगी और मौत के बीच ठीक सन्तुलित अवस्था मे जीता रहता है और पेंडुलम, डाइकूमेरोल तथा विटामिन-के से भरी इजेक्शन-पिचकारियों के बीच झूलता रहता है।

लिंक की प्रयोगशाला मे डाइकूमेरोल के निर्माण के बाद यह भी सिद्ध हो गया कि इसके घातक गुण भी मानव का एक और हित-साधन कर सकते है। डाइकूमेरोल के अणु मे जरा-सा परिवर्तन करने से एक ऐसा रासायनिक पदार्थ बन जाता है जिसकी छोटी-छोटी खुराके भी चूहो के लिए अत्यन्त विषैली सिद्ध होती हैं। यह उनके विटामिन-के को अवरुद्ध कर देता है और उनके अन्दर रक्तस्राव होने लगते है। अपनी विशिष्ट विनोदप्रियता के अनुकूल, लिंक ने इस अधिक शक्तिशाली डाइकूमेरोल को वारफरिन का नाम दे दिया और आजकल यह सब जगह हमारे सबसे सफल चूहामार-विष के रूप में बिकता है। *विस्कोंसिन के विश्वविद्यालय मे लिंक के अनुसधान को* आर्थिक सरक्षण देने वाली सस्था का नाम था, "विस्कोंसिन एलम्नाइ रिसर्च फाउंडेशन इन्कार्पोरेटेड।" इसी के शब्दों के प्रथम रोमन अक्षरो को लेकर लिंक ने वारफरिन नाम गढ डाला था।

इस प्रकार, डेन्मार्क के एक जागरूक वैज्ञानिक ने दैवयोग से चूहो की त्वचा पर रक्तस्राव देखे और सड़ी हुई तिनपतिया घास पर, विस्कोंसिन मे निपुण अनुसधान हुआ और आविष्कार की यह आश्चर्यजनक गाथा बन गई। विटामिन-के तथा डाइकूमेरोल ने, स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग से लड़ने के लिए हमारे वास्ते ताकतवर हथियार मुहय्या कर दिए हैं और साबित कर दिया है कि खोज के काम में इत्तिफाक या दैवयोग के रोल को कभी अनदेखी नहीं करनी चाहिए।

५

कभी तो जल्दी ही

तंत्रिका-कोशिकाओं में एक मुख्य पिंड होता है; इसमें से धागे जैसी पूंछ निकल कर बाहर को जाती है जिसे एक्सोन (तंत्रिकाक्ष) कहते हैं। कभी-कभी तो ये एक्सोन बहुत लम्बे होते हैं, रीढ़-रज्जु में स्थित कोशिका पिण्ड से निकल कर, सारी टांग में से होते हुए, पैर के तलवे की किसी पेशी तक जा पहुँचते है। तंत्रिकाएँ, दरअसल, पेशियों, ग्रन्थियों तथा अन्य तन्त्रिका कोशिकाओं की तरफ जाते हुए इन्हीं तंत्रिकाक्षों की पूलिया (बंडल) होती हैं।

शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक लोग मुद्दत से हैरान रहे हैं कि तंत्रिका-आवेग, अपने लक्ष्य-अंगों में जो प्रभाव पैदा करते हैं, कैसे करते है। अगर तुम तंत्रिका के अंतांग को अतिशक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखो तो तुम पाओगे कि तंत्रिका के अंतांग तथा सम्बद्ध अंग की कोशिकाओं के पृष्ठ के मध्य बहुत छोटा सा व्यवधान रहता है। इस छोटे से खाली स्थान को पार कर के तन्त्रिका-आवेग, उस अंग तक कैसे पहुँचता है? क्या यह कोई विद्युत् है जो व्यवधान को टाप जाती है? या, यह सम्भव है कि तंत्रिका-आवेग, तंत्रिका के अंतांग पर किसी न किसी तरह, किसी रासायनिक पदार्थ का स्रावण करवाता है और फिर यह पदार्थ उस अंग की कोशिकाओं को प्रभावित करता है ताकि वे परिवर्तन हो सकें जिन्हें हम तन्त्रिका के उद्दीपन से होता हुआ देखते है।

अमरीकी गृहयुद्ध के दिनों के आस-पास, एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक, डाक्टर क्लॉड बर्नार्ड, ने एक परीक्षण किया था जिससे उसे इस

दूसरी सम्भावना का सुझाव मिला था। उसका प्रयोग मेंढकों पर था। टांग के बिलकुल ऊपरले भाग पर उसने एक टूर्निकेट (समबंध) इस प्रकार बांध दिया कि रुधिर-परिवहन द्वारा टाग में कुछ भी न पहुंच सके। फिर उसने पीठ के निचले भाग की त्वचा के नीचे, क्यूरारे नाम के प्रबल विष का इंजेक्शन लगा दिया। दक्षिणी अमरीका तथा अफ्रीका की आदिम जातिया बरसों से अपने शिकारी तीरों को क्यूरारे के घोलो मे भिगोकर चलाती रही थी। ऐसे तीर की चोट खाकर शिकार, शीघ्र ही, पक्षाघात (फालिज) का शिकार हो जाता है और मर जाता है। डाक्टर बर्नार्ड ने अब, अपने क्यूरारे के इंजेक्शन वाले मेंढकों में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें देखी। अगर वह अवरुद्ध रुधिर वाली टांग को जाने वाली तन्त्रिका को उद्दीपित करता था तो उस टांग की पेशियां जोर से संकुचित हो जाती थी, जिससे सिद्ध होता था कि तंत्रिका, पेशियां तथा उनके बीच के संयोजन, सब ठीक काम कर रहे थे। लेकिन जब, तुलना के लिए, उसने अनवरत-रुधिर-संचार वाली दूसरी टांग की मुख्य तन्त्रिका को उद्दीपित किया तो पेशियों मे बिलकुल कोई संकुचन नही हुआ; यह टांग पक्षाघात की अवस्था मे थी।

अगर क्लॉड बर्नार्ड यही रुक जाता तो वह अपने परीक्षण का असली महत्त्व कभी न समझ पाता। वह यही निष्कर्ष निकाल कर रह जाता कि अगर क्यूरारे को रुधिर धारा के मार्ग से पेशियों तक जाने दिया जाय तो उनको लकवा मार जाता है। लेकिन उसने एक महत्त्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाया; उसने लकवे वाली इन पेशियों को सीधा उद्दीपित किया; उनकी तन्त्रिकाओं की मार्फत नहीं बल्कि अपने उद्दीपक इलेक्ट्रोड को सीधा पेशी के नगे पृष्ठ पर रख कर। उसको यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और आनन्द भी कि इससे भी पेशियों में संकुचन हुआ और उतना ही जोर का हुआ जितना कि दूसरी टांग की पेशियो मे, तन्त्रिकाओं की मार्फत उद्दीपित होने पर, हुआ था।

इस प्रकार, क्यूरारे के इजेक्शन से, खुद पेशियों में कोई खराबी नही आई थी अपितु किसी कारणवश तन्त्रिका के रास्ते आने वाला आवेग अवरुद्ध हो गया था और तन्त्रिका के आवेग से पेशी तक नही पहुंच सका था। क्या यह सम्भव था कि क्यूरारे के कारण तन्तिका-अंतांग पर किसी ऐसे रासायनिक पदार्थ का स्रावण अवरुद्ध हो गया था जो पेशी मे संकुचन पैदा करता है।

ऐसी क्रियाविधि ठीक तरह काम करे इसके लिए आवश्यक है कि प्रेपण करने वाला यह रासायनिक पदार्थ, तंत्रिका-अंतांग पर क्षणभर से अधिक न रहे वर्ना तन्त्रिका के क्रियाकलाप के प्रभाव दीर्घकालिक और बेढगे होंगे; जैसे

डा० क्लॉड बर्नार्ड अपनी प्रयोगशाला में

सूक्ष्म और अतिसंक्षिप्त होते हैं वैसे नहीं होंगे। शरीर क्रिया-वैज्ञानिकों ने कल्पना की कि इस प्रकार के कार्य को सम्पन्न करने के लिए तन्त्रिका-अंतांग पर ही कोई ऐसा एंजाइम उपस्थित रहता होगा जो इस प्रेषी रसायन को इसकी क्रिया के होने के फौरन बाद ही नष्ट कर देता है। आगे चल कर हम देखेंगे कि बात ठीक ऐसी ही है।

इस विचार को कि तन्त्रिकाएँ अंतांगों पर रासायनिक पदार्थों को स्रावित करती हैं और कि ये रसायन तंत्रिका-प्रभावों को पैदा करते है, एक अति सरल परीक्षण ने सिद्ध कर दिया और शंक की गुंजायश नहीं छोड़ी। यह परीक्षण डाक्टर ओटो लीवी ने सन् १९२० के ईस्टर के मौसम मे आस्ट्रिया के ग्राज नामक स्थान में किया था। उन दिनों वह ग्राज विश्वविद्यालय में औषध-प्रभाव-विज्ञान का प्रोफेसर था। इंग्लैंड की अपनी पिछली यात्राओं के दौरान उसका परिचय कैम्ब्रिज तथा लंदन विश्वविद्यालय के कुछ व्यक्तियों से हो चुका था। ये लोग तंत्रिकातन्त्र के उस भाग—स्वायत्त विभाग—पर अनुसंधान कर रहे थे जो हृदय के धड़कने, आमाशय तथा आंत्र की गतियों, ग्रंथियों के स्रावणों तथा मूत्राशय के संकुचन जैसी हमारे शरीर की अनैच्छिक क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। इन व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श करते करते डाक्टर लीवी इस बात के गहन चिन्तन में पड़ गया था कि तंत्रिकाएं, अंगों पर अपना प्रभाव कैसे डालती हैं।

इससे भी बहुत पहले, सन् १९०३ मे, कैम्ब्रिज में डाक्टर फ्लेचर के साथ विचार-विमर्श करते हुए डाक्टर लीवी के मन में यह विचार आया था कि तंत्रिकाओं के अन्तांगों पर प्रेषी रसायन होते हैं। उसे इस विचार में विशेष दिलचस्पी इसीलिए हो गई क्योंकि कुछेक तंत्रिकाओं के उद्दीपन से जो अंग उत्तेजित हो जाता है—जैसे, हृदय की गति तेज हो जाती है—दूसरी तन्त्रिकाओं के उद्दीपन से उसी का क्रियाकलाप दमित हो जाता है। उदाहरण के लिए, वेग से तन्त्रिका का उद्दीपन, हृदय की गति को मन्द या बन्द भी कर देता है। डाक्टर लीवी इस तथ्य से भी प्रभावित हुआ था कि कुछ औषधियाँ तन्त्रिका-उद्दीपन से प्राप्त उत्तेजक तथा निरोधी दोनों प्रभावों की नकल करती हैं। अतः रासायनिक प्रेषी सम्बन्धी विचार उसे आकर्षक लगता था, लेकिन परीक्षण द्वारा इसकी जाँच करने का तरीका उसे सूझ नहीं रहा था।

सन् १९०३ से १९२० तक वह सक्रिय रूप से दूसरे शोध कार्यों में लगा रहा और यह दिलचस्पी उसके दिमाग के एक कोने में पड़ी रही। फिर, १९२० के ईस्टर से पहले की रात में वह एक बार उठा, एक कागज पर कुछ नोट लि और फिर सो गया। अगले दिन प्रातः छः बजे उसे याद आया कि उसने

में कोई महत्त्वपूर्ण बात लिख ली थी । लेकिन जब उस कागज को देखा तो अर्धनिद्रित अवस्था में घसीटे हुए अपने शब्दों को वह समझ नहीं सका । अगली

डा० लीवी

रात, आधी रात के बाद तीन बजे, वही विचार फिर उसके मन में आया और
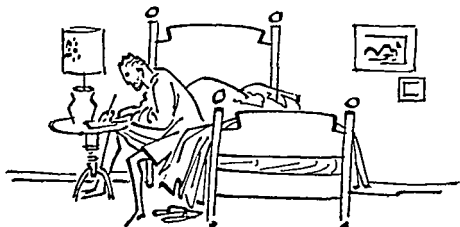
वह इसे अपने मन में स्पष्टतया केन्द्रित करके जागा: यह रासायनिक प्रेषण की कल्पना को जाँचने के परीक्षण का एक बिलकुल स्पष्ट डिज़ाइन था। उसने अपनी स्मृति-शक्ति पर या अपने रात्रि-लेख की पठनीयता पर भरोसा नहीं किया। डाक्टर लीवी एकदम उठ खड़ा हुआ, अपनी प्रयोगशाला में गया जहाँ उसने वह परीक्षण किया जो अब प्रसिद्ध हो चुका है और जिसने रासायनिक प्रेषक के उस विचार की सत्यता को सिद्ध कर दिया जिसका सुझाव उसने सत्रह साल पहले दिया था। उसकी विधि क्या थी, सुनो।

मेढक के हृदय को उसके शरीर से निकाल लें तो भी वह कई घंटों तक धड़कता रहता है बशर्ते कि उसको सावधानी से बरता जाय और मेढक को अपने शरीर के द्रवों से बिलकुल मिलते-जुलते किसी घोल से तर रखा जाय। इस तथ्य का लाभ उठाकर डाक्टर लीवी ने दो मेंढकों के हृदयों को निकाल लिया; एक में तन्त्रिकाएं बनी रहने दीं; दूसरे में से बिलकुल निकाल दी। दोनों हृदयों को अब कांच की नलियों के साथ जोड़ दिया गया ताकि उनको शरीरद्रव जैसे घोल से तर रखा जा सके और साथ ही साथ उनके स्पन्दनों की दर को एक गतिशील ग्राफ-पत्र पर अंकित किया जा सके।

अब प्रथम हृदय को जाने वाली वेगस तन्त्रिकाओं को विद्युत् द्वारा उद्दीपित किया और इसने अपने विशिष्ट तरीके से हृदय-गति को बन्द कर दिया। इस उद्दीपन को कुछेक मिनटों तक जारी रखा गया। बाद में इस हृदय को वेगसी-उद्दीपन के दौरान तर रखने वाले द्रव में से कुछ, दूसरे—अर्थात् तन्त्रिकाहीन—हृदय की ओर स्थानान्तरित कर दिया गया। डाक्टर लीवी यह देखकर सन्तुष्ट हुआ कि यह दूसरा हृदय भी मन्द पड़ गया, मानो इसकी वेगस तन्त्रिकाएं उद्दीपित की गई हों; लेकिन चूंकि इसमें तन्त्रिकाएं थी ही नहीं, यह मन्दन किसी ऐसे रसायन का प्रभाव होना चाहिए था जो प्रथम हृदय में, उसकी वेगस तन्त्रिकाओं के उद्दीपन के दौरान, निर्मुक्त हुआ होगा। इसके बाद उसने प्रथम हृदय की त्वरक तन्त्रिकाओं को विद्युत् द्वारा उद्दीपित करके उसको तेज कर दिया और जब इस प्रथम हृदय वाले द्रव से द्वितीय हृदय को पूर्ववत् तर किया गया तो वह तेज भी हो गया।

इस अत्यन्त सरल परीक्षण ने सिद्ध कर दिया कि जब कतिपय तन्त्रिकाओं को उद्दीपित किया जाता है तो [अंग में कुछेक पदार्थ निर्मुक्त होते हैं—सम्भवतः इसके तन्त्रिका अन्तांग में या उसके आस-पास—और कि यह पदार्थ अंग पर क्रिया करके तन्त्रिका का प्रभाव पैदा करते हैं। इस परीक्षण ने यह भी सिद्ध कर दिया कि ऐसा पदार्थ एक नहीं है अपितु एक से अधिक हैं। डाक्टर लीवी के परीक्षण में त्वरक तन्त्रिकाओं ने हृदय को तेज करने वाला

रसायन निर्मुक्त किया और वेगस तन्त्रिकाओं ने हृदय को मन्द करने वाला।
डाक्टर लीवी के परीक्षण से लेकर अब तक प्रयोगशाला में किए हुए सुन्दर शोध-कार्यों की एक शृंखला ने इन पदार्थों को रासायनिक तौर पर
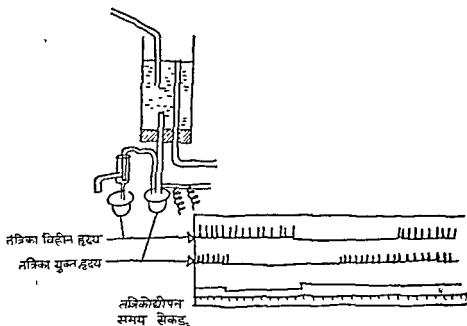
पहचान लिया है और इनकी क्रियाविधि के बारे में हमें बहुत कुछ बता दिया है। डाक्टर लीवी के प्रिय मित्र तथा इंग्लैंड के महान् शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक सर हेनरी डेल ने सिद्ध कर दिया कि लीवी का वेगस-पदार्थ तो एक रसायन है; नाम है एसिटिल्कोलीन। यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि एसिटिल्कोलीन शरीर के अन्य अनेक तन्त्रिका-अन्तागों पर भी निर्मुक्त होता है और पाचक-रसों के स्रावण, मूत्रोत्सर्जन, शरीर की पेशियों का कार्य आदि अनेक विभिन्न शरीर-क्रियाओं को प्रभावित करता है। इन सब बातों को देखते हुए यह बिलकुल उचित ही हुआ कि १९३६ का चिकित्साविषयक नोबेल पुरस्कार लीवी तथा डेल दोनों को दिया गया। तन्त्रिका-आवेगों के इन महत्त्वपूर्ण रासायनिक प्रेषियों का पता लगाने में पथप्रदर्शन इन दोनों ने ही किया था।

बाद में यह भी सिद्ध हुआ कि त्वरक पदार्थ एक ऐसा रसायन है जो एड्रिनलिन का निकट सम्बन्धी है; एड्रिनलिन नाम का हार्मोन, अधिवृक्क ग्रन्थि के मध्यांश द्वारा स्रावित होता है। इंग्लैंड का डाक्टर इलियट पहले ही देख चुका था कि एड्रिनलिन के इंजेक्शन के तथा हृदय को तेज करने वाली तन्त्रि-

कार्यों के समूह—अनुकम्पी तन्त्रिका तन्त्र—के उद्दीपन के प्रभाव एक से होते हैं। हाल के सालों में स्वीडन के जीव-रसायनज्ञ वान यूलर ने सिद्ध किया है कि अनुकम्पी तन्त्रिकाओं के अन्तागों पर निर्मुक्त होने वाला पदार्थ एड्रिनलिन नहीं होता अपितु रिश्ते में इसका बहुत नजदीकी पदार्थ नार-एड्रिनलिन होता है।

इन रसायनी प्रेषियों के आविष्कार ने रोगों की औषधचिकित्सा का एक पूरा का पूरा नया क्षेत्र खोल दिया है। मैं पहले जिक्र कर आया हूं कि ये रासायनिक प्रेषी जल्दी से काम कर सकें इसके लिए आवश्यक है कि तन्त्रिका अन्तागों के पास ऐसे एंजाइम हों जो शीघ्रता से, सम्बद्ध प्रेषी रसायन को नष्ट कर सकें। इन नाशक एंजाइमों का भी पता लग चुका है और वे हमारी पूर्व-कल्पनानुसार ही काम करते हैं।

कभी-कभी डाक्टर लोगों को इस बात की जरूरत पड़ती है कि तन्त्रिका के आवेग का प्रेषी देर तक काम करता रहे। ऐसा करने की एक विधि यह है कि कोई ऐसी औषधि बरती जाय जो नाशक एंजाइम की क्रिया को अवरुद्ध कर दे। ऐसी दवाई है, बैलाडोना; जब डाक्टर ने आंख के भीतरी भाग की परीक्षा करनी होती है तो इससे युक्त दवा की बूंदें आंख में डाली जाती हैं ताकि पुतली फैल जाय और काम आसान हो जाय। वेगस तन्त्रिका के अन्तागों पर निर्मुक्त होने वाला और हृदय को धीमा करने वाला रसायन—एसिटिल्कोलीन—आंख की पुतली को नियन्त्रित करने वाली वृत्ताकार पेशी में भी तब निर्मुक्त होता है जब किसी नेत्रतन्त्रिका के मार्ग से उसमें आवेग पहुंचते हैं। यह एसिटिल्कोलीन, पुतली को फैला देता है। बैलाडोना, आंख में सामान्यतः स्रावित होने वाले एसिटिल्कोलीन को नष्ट होने से बचा देता है। परिणामतः, जब तक बेलाडोना आंख में रहता है, पुतली फैली रहती है।

कभी-कभी, किसी आपरेशन के दौरान आजकल के शल्यचिकित्सकों के लिए आवश्यक हो जाता है कि सांस की गतियों को बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। उदाहरण के तौर पर, फेफड़े के एक भाग को निकालते समय। औषध-प्रभाव-वैज्ञानिकों (औषधियों की, शरीर-क्रिया को प्रभावित करने की विधियों की जांच करने वालों) ने हाल ही एक पदार्थ का आविष्कार किया है। नाम है, सक्सिनिल्कोलीन। यह शरीर की सब पेशियों को, सांस चलाने वालियों को भी, ऐसा कर देता है मानो उन्हें लकवा मार गया हो। यह पदार्थ एसिटिल्कोलीन का निकट सम्बन्धी है और एसिटिल्कोलीन की सामान्य क्रिया को ध्यान में रखकर इसका कृत्रिम निर्माण किया गया था।

जिन पेशियों की बदौलत शरीर में गति उत्पन्न होती है उन्हें ... कहते हैं। इन पेशियों को जाने वाली तन्त्रिकाओं के अंतागों ५८९७७

स्रावित होता है। मध्यपट (डायाफ्राम) तथा पसलियों के बीच की, श्वसन को नियंत्रित करने वाली पेशियाँ भी बाहु-द्विशिरस्क (बाइसेप्स) या टाँग की पिण्डली की पेशियों की तरह ही ककाल-पेशियां होती हैं। जब सक्सिनिल्-कोलीन का इन्जेक्शन रुधिरधारा मे दिया जाता है तो वह इन कंकाल पेशियों के तत्रिका-अंतांगों में प्रविष्ट हो जाता है और कुछ देर के लिए उनमें ऐसा परिवर्तन कर देता है कि वे एसिटिल्कोलीन को प्रतिक्रिया नहीं दे सकते। परिणामतः पेशियों को लकवा मार जाता है। और, आपरेशन के दौरान शल्यचिकित्सक को ठीक इसी अवस्था की आवश्यकता होती है।

सक्सिनिल्कोलीन की खूबी यह है कि जो एंजाइम एसिटिल्कोलीन को विखडित करते हैं वे ही इसे भी झटपट नष्ट कर सकते हैं। अतः, जब शल्य-चिकित्सक इसके प्रभाव को समाप्त करना चाहता है तब उसे सिर्फ इतना करना पडता है कि इसकी और मात्रा देना बन्द कर दे। पेशियो मे जो बचा होता है वह नष्ट कर दिया जाता है और पेशिया, एसिटिल्कोलीन को प्रति-क्रिया देने की अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेती हैं—तत्रिका-अतागों द्वारा पेशियो की कोशिकाओ मे निर्मुक्त होने वाले इस नैसर्गिक उद्दीपन से सकुचित होने लगती है।

आगे चल कर हम वर्णलेखन (क्रोमेटोग्राफी) के जिस मामले की चर्चा करेंगे उस पर भी, किसी आविष्कार के महत्त्व तथा अनुसधान की किसी नई विधि के परिणामो सम्बन्धी, ये सब विचार लागू होंगे। भूतकाल की उप-लब्धियों की नींव पर तो हम सदा ही वर्तमान की दीवारो को खडा करते हैं। लेकिन निर्माण के आधार के रूप मे इतना कुछ इतनी जल्दी पहले कभी उपलब्ध नही हुआ जितना कि १९२० के ईस्टर के उस बड़े तड़के किए गए डाक्टर लीवी के सरल तथा निश्चायक परीक्षण के कारण हो गया।

किया था। उसक विचारों की छाप इरेस्मस डार्विन पर भी पड़ी थी।

फ्रांस का एक ग्रौर प्रकृति वैज्ञानिक हुग्रा है। नाम था, क्यूविग्रर। इसके जीवन (१७६६-१८३२) का कुछ भाग बफ्फोन के जीवन के पिछले वर्षो का समकालीन था। बफ्फोन की तरह इसने भी चट्टानो तथा उनके ग्रन्त:स्थापित फासिलो में प्राणियों की ग्रावादियो के पूरे के पूरे ग्रनुक्रम को पाया था; यह ग्रनुक्रम भूतकाल की ऐसी जातियों (स्पीशीज) को निरूपित करता था जो ग्रब लुप्त हो चुकी हैं।

स्काटलैंड के चिकित्सक जेम्स हटन (१७२६-१७६७) ने भी, स्काटलैंड की उच्चभूमियों पर घूमते हुए—बफ्फोन की तरह ही—यह पाया था कि ये फ़ासिल, तहों में लगे होते है। इससे उमे यह सुझाव मिला था कि उनके ये निक्षेप धीमे-धीमे ग्रौर क्रमश: लम्बे ग्रर्से तक बनते रहे है, महाप्रलयो की किसी शृंखला में नही बने। ग्रपनी मिट्टी के निक्षेपों को भी पर्वतशिखरो से घाटी की ग्रोर ले जाते हुए, उच्चभूमि के छोटे-छोटे नालों में हटन ने भूमि के ग्रपरदन तथा नवीकरण के विकासात्मक प्रक्रम के दर्शन किए ग्रौर ग्रनुभव किया कि यह कितना धीरे-धीरे चलने वाला प्रक्रम है।

विलियम स्मिथ (१७६९-१८३९), इंग्लैंड का एक ग्रसैनिक इंजीनियर था। वह नहरें बनाया करता था ग्रौर उनकी साफ़ कटी चट्टानी दीवारों मे ठीक इसी प्रकार की फासिलों की तहें पाया करता था। उसने देखा था कि एक दूसरे से मिलते-जुलते फासिल, भिन्न-भिन्न तहों मे पाये जाते है। इससे उसने परिणाम निकाला था कि सुदूर भूतकाल के भिन्न भिन्न युगों से परिरक्षित इन प्राणियों में जो परिवर्तन उसे दीखते हैं वे एक दम नही ग्रपितु धीरे-धीरे हुए हो सकते है। उसने यह भी देखा था कि हम भूतकाल में जितना गहरा उतरते जाते हैं, ग्राजकल के प्राणियों तथा पौधों के साथ इन फासिलों की समानता उतनी ही कम होती जाती है।

चार्ल्स डार्विन को सबसे ग्रधिक प्रभावित, सम्भवत:, इग्लैंड के भूविज्ञानी चार्ल्स लेल (१७९७-१८७५) ने किया था। इसी महानुभाव ने "प्रलयवाद" को हमेशा के लिए तिलांजलि दी थी। वह डार्विन का शिक्षक भी था, सहयोगी भी। उसका विचार था कि प्राचीन काल भी वैसे ही हुग्रा करते थे जैसा कि उसका ग्रपना काल था; ग्रौर कि चट्टानें ग्रब भी समुद्रों तथा नदियों द्वारा बनाई जा रही हैं ग्रौर हिमनदों, ग्रांधियों ग्रौर तूफ़ानो द्वारा घिसाई जा रही हैं।

चार्ल्स डार्विन, मान्यताग्रों के ऐसे मौसम में प्रकट हुग्रा था। उसने जो कुछ "ग्राविष्कृत" करना था उसमें से बहुत-सा पहले ही व्यक्त किया जा चुका था;

लेकिन ठीक वैसे नही जैसे उसने किया। एक लिहाज से कहा जा सकता है कि उसकी उपलब्धियां एकदम नई नहीं थीं। लेकिन एक लिहाज से ये नई थी क्योंकि उससे पहले किसी ने भी उस समय के अनेक भिन्न-भिन्न तथा बिलकुल पृथक्-पृथक् विचारों को मिलाकर ऐसे व्यापक सिद्धान्त का रूप नही दिया था जिसमे न केवल यह बताया गया था कि जातियो का उद्भव विकास द्वारा हुआ है अपितु इस प्रक्रम का युक्तिसगत कारण भी बताया गया था।

चार्ल्स डार्विन, इंग्लैंड के धार्मिक नगर श्रूसबरी में काम करने वाले एक सफल तथा कुछ कठोर स्वभाव चिकित्सक के घर पैदा हुआ था। बचपन से ही उसे प्राकृतिक अध्ययन मे रुचि थी लेकिन उसका प्रमुख शौक था शिकार, मछली पकड़ना तथा दूसरे बाहरी खेल। वह घर का अमीर था और अपने जीवन के व्यवसाय के प्रति कोई प्रबल आस्था न होने के कारण उसके लिए खिलाड़ी बन जाना या ऐशआराम में जीवन बिता देना कुछ मुश्किल नही था। लेकिन उसके पिता ने उसे चिकित्साशास्त्र पढ़ने के लिए प्रेरित किया। इसके विरोध के लिए भी उसके पास कोई प्रबल युक्ति नही थी अतः वह इस प्रयोजन के लिए १८२५ में एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया के पाठ्यक्रम तो उसे पसन्द थे लेकिन जब वह पहली बार आपरेशन के कमरे में प्रविष्ट हुआ और उसने रुधिर तथा जीवित मास देखा तो उसे ऐसा लगा कि उसकी तबियत बहुत बिगड़ गई है। इसी कारण, उसने चिकित्सा का अध्ययन छोड़ देने का निश्चय कर लिया।

इस पर उसके पिता ने सुझाव दिया कि वह धर्मोपदेशक बनने के लिए अध्ययन करे। युवक चार्ल्स को गांव के पादरी के जीवन मे कुछ आकर्षण प्रतीत हुआ, वह इस पाठ्यक्रम के लिए सहमत हो गया और १८२८ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भरती हो गया। कक्षाओं की अधिकांश पढ़ाई तथा औपचारिक व्याख्यान उसे नीरस और व्यर्थ प्रतीत होते थे। अपने फालतू समय में वह पौधों तथा प्राणियों के नमूने बटोरा करता था। इसमें उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता था क्योंकि ये संग्रह किसी मौलिक वैज्ञानिक समस्या के काम नही आते थे। इनसे उसका बेकार कुतूहल और व्यापक प्रकृतिप्रेम जरूर सन्तुष्ट रहता था।

लगभग इन्हीं दिनों डार्विन को एक नए मित्र की प्राप्ति हुई जिसके कारण उसकी गहनतर रुचियां केन्द्रीभूत हो गई और अगला जीवन प्रभावित हुआ। इस नए मित्र का नाम था हेन्स्लो। वह वनस्पतिशास्त्र का प्रोफेसर था। उसने डार्विन में किसी असाधारण गुण की उपस्थिति को भाप लिया था। कक्षा

की नियमित क्षेत्र-यात्राओं में, कैम्ब्रिज के आस-पास के देहाती इलाकों के भ्रमणों में, हेन्स्लो के घर पर तथा अन्य भी अनेक अवसरों पर उनका संगम होता रहता था।

सरकारी जहाज बीगल के कप्तान राबर्ट फिट्जराय के पास डार्विन की सिफारिश करके हेन्स्लो ने ही डार्विन को वह अवसर प्रदान किया था जिसने उसके जीवन की काया ही पलट दी। फिट्जराय के अधीन यह जहाज, दक्षिणी अमरीका के तट का सर्वेक्षण करने की, ब्रिटिश नौ-अधिकरण की प्रायोजना को पुनः चालू करने लगा था। फिट्जराय की सम्मति थी कि उसके जहाजियों में एक प्रकृतिवैज्ञानिक भी होना चाहिए जो यात्रा के दौरान प्राप्त होने वाले भूविज्ञान तथा जीवविज्ञान सम्बन्धी प्रेक्षणों के सुनहरे अवसरों का लाभ उठा सके। उसकी वैज्ञानिक दिलचस्पियों को चालू रखने के लिए जो अवसर इस यात्रा से प्राप्त हो सकते थे, डार्विन उनके प्रलोभन का सवरण

एच० एम० एस० बीगल

नहीं कर सका और जब वह और उसका चाचा, उसके पिता की उठायी घोर आपत्तियों का निवारण कर चुके तो उसने, १८३० के सितम्बर में, कप्तान फिट्जराय के साथ जाने के लिए दस्तावेजों पर दस्तखत कर दिए।

बीगल, नौसेना का जहाज था। वर्गाकृति पालों, दस तोपों तथा दो मस्तूलों से लैस था। दिसम्बर १८३१ में यह इंग्लैंड से चला। इसकी यात्रा दो-तीन साल चलनी थी लेकिन चलती रही पांच साल। डार्विन के लिए यह पांच साल की अवधि ही असली शिक्षा का समय सिद्ध हुई। ऐसा लगता था मानो प्रयोगशाला का कोई लम्बा परीक्षण चल रहा था जिसके दौरान डार्विन परिपक्व-प्रकृतिवैज्ञानिक बन गया था।

यात्रा पर वह अपने साथ चार्ल्स लेल के महान् ग्रन्थ, भूविज्ञान के सिद्धान्त को ले गया था। इस यात्रा के प्रथम वर्ष में उसने इसे पढ़ डाला और बार-बार पढ़ा। लेल ने स्वीकार किया था कि चट्टानें अब भी बनती और फिर हिमनदों तथा अपरदन द्वारा नष्ट होती रहती हैं। वह मानता था कि प्राचीन भूवैज्ञानिक युग, सचमुच हमारे युग जैसे ही थे। ऐसी साक्षियों से सृष्टि सम्बन्धी प्रलयवाद की धज्जियां उड गई थी। गेलापेगोस द्वीप के ज्वालामुखीय गर्तों, टिएराडेल फ्यूगो के समुद्र मे बह कर आने वाले हिमनदों को तथा प्रशान्त-महासागर के कीलिंग द्वीपो मे बनी मूंगे की चट्टान सम्बन्धी अपने प्रेक्षणों को समझने का आधार डार्विन को इस पुस्तक से मिला था।

यात्रा के दौरान उसने जो कुछ भी देखा उसमे उसे विकास के विचार का समर्थन ही मिला। दक्षिणी अमरीका मे मिले घोड़े के दांत के फासिल ने और पेटागोनिया में मिले हड्डियों के फासिल ने उसके चिन्तन को प्राचीन काल की जीवित जातियों के लोप की समस्या की ओर तथा आज की जीवित जातियों को लुप्त जातियों के साथ जोड़ने वाली कड़ियों की ओर मोड़ दिया। अब वह हैरान था कि एक जाति को दूसरी जाति मे रूपान्तरित करने वाले परिवर्तन कैसे हुए होगे।

गेलापेगोस द्वीपसमूह मे वह पक्षियो की विविधताएं देखकर तथा पड़ोसी द्वीपों के पक्षियों की भिन्नताएं देखकर भी प्रभावित हुआ था। यद्यपि इनमें से प्रत्येक द्वीप के पक्षियो में भिन्नताएं थी लेकिन वे उन पक्षियों के समान ही थे जिन्हें उसने अमरीका की मुख्यभूमि पर देखा था। इससे उसके मन में विचार उठा कि ये सब मुख्यभूमि पर रहने वाले किसी एक ही पुरखा के वंशागत होने चाहिएं। इस प्रेक्षण के आधार पर वह इस बारे में सिद्धान्तों का विकास करने लगा कि प्राणियो की जो जातियां दूसरो से अलग-थलग पड जाती है उनका क्या बनता है। ज्यों-ज्यों बरस गुजरते हैं उनमें अगर कोई परिवर्तन होते हैं तो वे क्या होते है और जब प्रत्येक ऐसी जाति अपने आपको अपनी परिस्थिति के मुताबिक ढालती है तो जातियों की ये भिन्नताएं कैसे उत्पन्न हो जाती हैं?

१८३६ मे स्वदेश वापिस पहुंचने पर डार्विन फिर कैम्ब्रिज चला गया और बीगल से नमूनों का जो संग्रह वह लाया था, उनकी सूचियां तय्यार करने के लम्बे काम में लग गया। उसके मन मे पुरोहिताई के धन्धे को बाबत कोई विचार रह भी गया था तो उसे इस यात्रा ने सदा के लिया मिटा दिया। उसके पिता, विरासत में, उसके लिए बहुत-सी धन-सम्पत्ति छोड़ गए थे अतः उसने विज्ञान की एकान्त साधना मे जीवन बिताने का निश्चय कर लिया।

चार्ल्स डार्विन

बीगल की वापसी के एक वर्ष के भीतर ही उसने उस यात्रा का विवरण पूरा कर लिया जो फिट्ज़राय की गश्ती तथा सर्वेक्षण रिपोर्ट के एक भाग के रूप में प्रकाशित हुआ। स्वाभाविक ही था कि उसकी तरफ आम लोगों का ध्यान नहीं गया। लेकिन बाद में, इसका प्रकाशन अलग पुस्तक के रूप में हुआ जिसने बहुत लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। पुस्तक का नाम था : एक प्रकृति वैज्ञानिक की विश्व यात्रा।

इसके थोड़े ही दिनों बाद डार्विन लन्दन चला गया और वहाँ उसने चार साल तक अपना वैज्ञानिक कार्य जारी रखा। वह लायल का घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य बन गया और अब भूविज्ञान उसका मुख्य विषय हो गया। उसने मूंगे की चट्टानों, हिमनदों तथा अन्य ऐसी समस्याओं का अध्ययन शुरू किया जो उसकी समुद्र-यात्रा में किए प्रेक्षणों से उत्पन्न हुई थीं। जीवित प्राणियों के विकास सम्बन्धी उसके विचारों का क्या बना? वे बराबर कायम थे और ज्यों-ज्यों वह अपने संग्रहों का वर्गीकरण करता और अन्य विषयों पर लिखता जा रहा था, वे विचार उसके मन में आलोड़ित होते जा रहे थे और धीरे-धीरे निखरते जा रहे थे।

सन् १८३९ में उसने अपनी चचेरी बहन एम्मा वेजवुड से शादी कर ली और थोड़े ही दिनों में उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया। कठोर प्रकृति के इस व्यक्ति को ऐसा लगने लगा कि मन को केन्द्रित करके काम करने की उसकी क्षमता एकदम सीमित हो गई है और काव्य और संगीत के प्रति उसकी रुचि समाप्त हो गई है। उसके अपने शब्दों में कहें तो उसके व्यक्तित्व में आने वाले इस विचित्र परिवर्तन ने उसके मन को "एक ऐसी चक्की बना डाला था जो तथ्यों के बड़े भारी संग्रह को पीस कर व्यापक नियमों का रूप दे रही थी।"

इस अस्वस्थता ने अन्ततः, उसे बाध्य कर दिया कि लन्दन के जीवन से अधिक शान्त जीवन बितावे। इसलिए १८४२ में वह अपने परिवार के साथ केण्ट के इलाके के डाउन नामक गाँव की अठारह एकड़ भूमि में बनी अपनी विशाल हवेली में जा बसा। अपना शेष जीवन उसने वहीं बिताया। वह अपने परिवार और थोड़े से घनिष्ठ मित्रों के सिवाय किसी से नहीं मिलता था और आराम, सैर तथा काम के दैनिक क्रम को बिलकुल ठीक रखता था। उसके रोग ने उस पर जो पाबन्दियाँ लगा दी थीं उनके बावजूद उसने जितना काम कर डाला उससे अधिक उल्लेखनीय बात कोई नहीं। इसका रहस्य था उसकी छोटी-छोटी अवधियों के लिए अत्यन्त एकाग्रचित्त हो जाने की उसकी क्षमता, काम करने की उसकी आदतों की नियमितता और ध्यान बटा सकने वाली सब चीजों से उसका मुकम्मल अलगाव।

इन भूविज्ञानी शोध कार्यो को समाप्त करके डार्विन ने अपना सारा ध्यान जातियो (स्पीशीजो) की समस्या पर लगा दिया। इस बीच उसको विश्वास हो चुका था कि जिस प्रकार पृथ्वी एक प्राकृतिक प्रक्रम द्वारा क्रमशः विकसित हुई है उसी प्रकार प्राणी भी किसी प्राकृतिक प्रक्रम द्वारा विकसित हुए हैं और हो रहे हैं। वह प्रक्रम क्या है, इस बारे मे वह अभी स्पष्ट कुछ नही कह सकता था। उसकी प्रथम जिज्ञासा थी, "जाति (स्पीशीज) क्या होती है।" शेरों, व्हेल मछलियो तथा कुत्तो मे जो स्पष्ट भिन्नताएं है उन्हे तो वह देख सकता था, लेकिन क्या इन पृथक्-पृथक् रूपो मे कोई सूक्ष्म भिन्नताएं भी होती है। उसने निश्चय किया कि किसी एक ऐसे रूप को चुन ले जिसे सामान्यतः पृथक् जाति माना जाता है और उसका अध्ययन करे। इस दृष्टि से उसने (एक प्रकार के) हंसों को चुना। अपने अध्ययन कक्ष की खिडकी के साथ की मेज पर उनका शवच्छेदन किया, उनका वर्गीकरण किया और जितनी किस्मो को वह निर्धारित कर सका उनका विस्तृत वर्णन तैयार किया। हंसो पर किए इस अध्ययन से उसे इस बात के प्रमाण मिले कि पृथक्-पृथक् किस्मों मे विशेष परिवर्तन तो होते है लेकिन विशेषताओ का ऐसा सर्वनिष्ठ वर्ग भी मिला जो उन सबको एक ही जाति का सिद्ध करता था।

अब आखिरकार, वह अपनी उस बीगल यात्रा की नोटबुकों और नमूनो को हाथ मे लेने के लिए तैयार हुआ जिसमें उसका विकासात्मक सिद्धान्त पनपने लगा था। पृथक् जातियों (स्पीशीजो) के उद्भव का, किसी सामान्य पुरखा की वशागति से अच्छा कोई समाधान नहीं हो सकता था। विकास के दौरान प्रत्येक जाति, अपने शरीर की रचना तथा क्रिया को अपनी परिवर्तनशील परिस्थितियों मे जीवित बच रहने के लिए आवश्यक तरीके से परिवर्धित करती रही है।

अगले साल भर डार्विन परीक्षण, वर्णन, वर्गीकरण तथा पठन करता रहा और लम्बे चौड़े पत्रव्यवहार द्वारा हर ऐसे व्यक्ति से विचार-विमर्श करता रहा जिसके पास इस विषय से सम्बद्ध कोई भी उपयोगी जानकारी हो सकती थी। उसने जानवरों की नस्लें तैयार करने वालों की तरफ भी ध्यान दिया और उनके तरीकों और नतीजों की बाबत हर मुमकिन जानकारी हासिल की। उसने और भी साफ देखा कि जिस तरीके से वे, कुछ वांछनीय विशेषताओ को छाटने तथा विकसित करने के लिए पालतू जानवरो कृत्रिम नस्लें तैयार करते हैं वह उस तरीके से मिलता-जुलता है जिससे मन्दतर गति से और हजारों सालो मे कतिपय ऐसी विशेषताओं को है जो, अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों मे जीवित बच रहने के लिए [illegible]
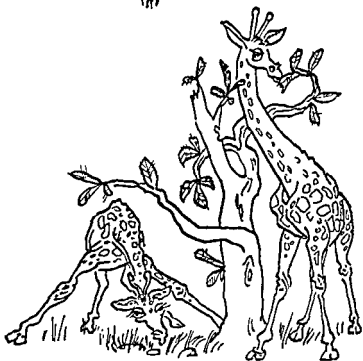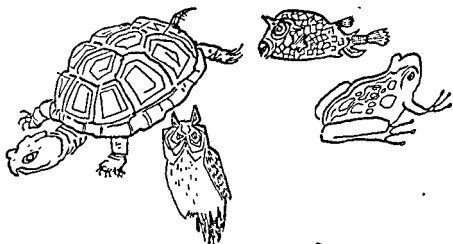
विशेष में विकसित होनी चाहिए। इस अध्ययन से उसका यह वर्धमान विश्वास और भी पक्का हो गया कि पालतू जानवरों की नस्लें बनाने वाले इन लोगों में जो कृत्रिम वरण प्रचलित है उसके मुकाबले स्पीशीजों (जातियों) का प्राकृतिक विकास, प्राकृतिक वरण के एक बहुत ही मन्द प्रक्रम से होता है।

यहां तक तो सब ठीक है, लेकिन इस प्राकृतिक वरण के प्रक्रम का कारण

क्या है। डार्विन उसका उत्तर प्रकृति में नहीं पा सका। प्रकृति, वरण के इस कार्य को करती किस प्रकार है। क्या चीज है जो नस्ल सुधारने वाले का रोल ग्रदा करती है। वह चिरकाल तक इस पर चिन्तन करता रहा। फिर, सन् १८३८ मे एक दिन रेवरेंड टी० ग्रार० मालथस का लिखा जनसख्या पर निबन्ध उसकी नजरों से गुजरा। टी० ग्रार० मालथस, ग्रर्थशास्त्र तथा गणित के विषयो के लेखक थे। उन दिनों का इंग्लैंड, व्यापार तथा ग्राबादी के बेहद फैलाव की सम्भावनाग्रो मे मग्न था। लेकिन मालथस, इस फैलाव के भविष्य-प्रभावो से चिन्तित था। यह संसार जितने लोगों को पाल सकता है उसकी ग्रन्तिम सीमा किस चीज से बंधेगी। उसके ग्रनुसार, एक वक्त ऐसा ग्रा जायगा कि भोजन की सप्लाई को जनसख्या मात दे देगी ग्रौर तब ग्रकाल के सीधे सादे प्रक्रम से तथा रोग ग्रौर मानव-रचित युद्धों की सहायता से प्रकृति, ग्राबादी के ग्रौर बढ़ने पर रोक लगा देगी। मालथस का विचार था कि मानव ने इस धरती पर गरीबी ग्रौर दुर्भाग्य से बचकर जीना है तो ऐसी रोकें ग्राव-श्यक है।

डार्विन के मन मे मानो बिजली चमक उठी। इस निबन्ध के रूप मे उसे प्राकृतिक वरण सम्बन्धी ग्रपने सिद्धान्त की चाभी मिल गई। प्रकृति, प्राणियो तथा वनस्पतियो की ग्राबादी के बेहद फैलाव पर ऐसी ही "रोकें" जरूर लगाती होगी। लेकिन वह कौन सी चीज है जो यह निर्धारित करती है कि जीवित बच रहने के लिए किन स्पीशीजों (जातियो) को चुनना है। ये जातियाँ तो वही हो सकती है जिनमें वे विशेषताएं हों जो उन्हे उनकी परिस्थितियों मे जीवित बच रहने के लिए योग्यतम बनाती है। शेष जो जीवित बच रहने वाली विशेषताग्रों से लैस नही होती, समाप्त ग्रौर लुप्त हो जाती है। इस प्रकार उसकी यह धारणा बनी कि प्राकृतिक वरण का कारण है योग्यतम की ग्रतिजीविता; फार्म पर नस्लें तैयार करने वालों के कृत्रिम वरण का प्रतिरूप यही है।

डार्विन के जमाने मे ग्रौर उससे पहले भी इन विचारो में से ग्रनेक, जीव-वैज्ञनिकों के ज्ञान तथा विचार-विमर्श में ग्रा चुके थे। लेकिन जब तक डार्विन ने विकास को, प्राकृतिक वरण को तथा इसके कारण के रूप में योग्यतम की ग्रतिजीविता को एक पूरे सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत नही कर दिया, किसी ने इन विचारो के इस प्रकार के सम्बन्धों को नही भापा था।

डार्विन, मालथस के निबन्ध को तो १८३८ में ही, ग्रर्थात् बीगल की वापसी के दो साल बाद ही पढ चुका था। लेकिन वह ग्रब भी ग्रपने सिद्धान्त को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करने के लिए तैयार न था। उसकी योजना

एक ऐसा विशाल तथा विवरणात्मक ग्रन्थ लिखने की थी जो उसके जीवन भर के कार्य को निरूपित करे और उसके सिद्धान्त के समर्थन मे बहुत से प्रमाण प्रस्तुत करे। उसे प्रकाशन की कोई जल्दी नही थी हालांकि उसके, मेल तथा वनस्पति वैज्ञानिक हुकर जैसे मित्र उसे इसके लिए प्रेरित करते रहते थे, उन्हें भय था कि कही और कोई व्यक्ति उसी सिद्धान्त को प्रकाशित करके डार्विन की बराबरी का दावा न कर बैठे। लेकिन डार्विन एक सावधान अनुसधानकर्ता था और उससे जल्दबाजी नहीं कराई जा सकती थी। वह चाहता था कि अपने सिद्धान्त के सब सम्भावित दोषों की जाच कर ले और उसे वैज्ञानिक प्रमाणो से पुष्ट कर ले। फिर उसके सिद्धान्त से विवाद का जो तूफान उठ सकता था उससे भी वह बेखबर नही था। इसलिए वह डाउन के एकान्त मे ही रहकर अपने सावधान अनुसधान में कुछ घण्टे प्रतिदिन लगाता रहा और अगले बीस सालों तक ऐसा ही करता रहा।

लेकिन १८५८ के जून मास मे सहसा एक दिन यह अनन्तसाधना एक कठोर धक्के के साथ तोड़ दी गई; कारण था एक पत्र जो सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया से आया था। इसका लेखक भी एक अंग्रेज प्रकृति-वैज्ञानिक था। नाम था, एल्फ्रेड रसल वालेस। इसमें उसका एक नया लेख था, शीर्षक था, "उपजातियो की अपनी मौलिक जातियों से हमेशा के लिए पृथक् हो जाने की प्रवृत्ति पर निबन्ध।" इसे पढकर डार्विन को आश्चर्य भी हुआ, शंका भी। इसमे उसका सिद्धान्त ठीक उसी रूप में, पूरा का पूरा और अच्छे प्रमाणों के समर्थन के साथ दिया हुआ था। वालेस, मलाया द्वीपसमूह के भूविज्ञान तथा जीवित प्राणियो का अध्ययन करता रहा था। उसने भी पालतू जानवरों की नस्लें बनाने मे काम आनेवाले कृत्रिम वरण तथा प्राकृतिक वरण के प्रक्रम मे सदृशता का अनुभव किया था और, डार्विन की तरह ही, इस बात को विकास के एक सिद्धान्त का आधार बनाया था। उसने भी माल्थस के विचारो का अध्ययन किया था और उसके निबन्ध से, प्राकृतिक वरण के कारण के रूप मे योग्यतम की प्रतिजीविता के उसी विचार को विकसित किया था। वालेस के प्रेक्षण डार्विन से बहुत कम थे और उसने कोई बड़ी पुस्तक नही अपितु छोटा-सा निबन्ध लिखा था। उसने इस क्षेत्र मे डार्विन को अपना गुरु स्वीकार किया था और इसी कारण उसने, प्रकाशन से पहले, अपने निबन्ध को, समालोचनाओं तथा सुझावों के लिए डार्विन के पास भेजा था।

वालेस का निबन्ध, डार्विन के लिए एक प्रबल आघात था। हालांकि वह ससार से विरक्त सा रहा था और अपने जमाने के पेशेवर वैज्ञानिकों की गोष्ठियों मे बाहर ही रहा था फिर भी डार्विन के मन मे यश कमाने की

अभिलाषा तो थी ही। जब वह इस प्रकार अत्यन्त निरुत्साहित हुआ तो उसके मन में सबसे पहला भाव यह उठा कि वह अपनी विशाल पुस्तक को प्रकाशित करने की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं को त्याग दे और वालेस के निबन्ध के प्रकाशन का प्रबन्ध कर दे। लेकिन उसने लेल तथा हुकर से पूछा कि उनकी राय मे उत्तम क्या है? उसने निश्चय किया कि लंदन की लिनीअन सोसायटी के सम्मुख वालेस के निबन्ध तथा अपनी पुस्तक के कुछ भागो को सम्मिलित रूप से प्रस्तुत किया जाय। सन् १८५८ की प्रथम जुलाई को किया गया यह प्रस्तुतीकरण, विचारो के इतिहास मे सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। बहुत-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओ की तरह जो कि अपने समय से पहले घटी प्रतीत होती है, इस घटना ने भी अपने विद्वान श्रोताओं पर प्रत्यक्षतः कोई प्रभाव नही डाला। उनका मत नही बदला और वे सृष्टि सम्बन्धी जिन पारम्परिक धारणाओं को लेकर सभा मे आए थे उन्ही को साथ लेकर लौट गए।

डार्विन ने अब अपनी पुस्तक की योजनाओ को बदल दिया। उसने इतनी बडी पुस्तक लिखने का विचार छोड़ दिया और लगभग पाँच सौ पृष्ठों की एक छोटी पुस्तक को सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित करने का निश्चय किया। इस काम को पूरा करने के लिए उसे अगले तेरह महीने घोर परिश्रम करना पड़ा और यह, १८५९ के नवम्बर मास मे, इस भारी-भरकम शीर्षक से प्रकाशित हुई, प्राकृतिक वरण की विधि से जातियों का उद्भव, उर्फ, जीवन सग्राम में कृपापात्र जातियों का परिरक्षण। लेकिन अब कभी भी हम इस लम्बे शीर्षक को नही बरतते; जातियों का उद्भव ही कह देते है।

प्रथम संस्करण तो सारा का सारा प्रकाशन के दिन ही बिक गया था और १८७६ तक, अकेले इंग्लैंड मे, कोई सोलह हजार प्रतियां बिक चुकी थी। शीघ्र ही, संसार की प्रमुख भाषाओ में इसका अनुवाद हो गया। यह सफल रही क्योंकि इंग्लैंड इसके लिए तैयार था। इसमें प्रकट किए हुए विचार हवा मे आ चुके थे और चिन्तनशील लोग इस बात के लिए तैयार हो चुके थे कि पृथ्वी की सृष्टि तथा मानव के उद्भव सम्बन्धी उनकी पारंपरिक धारणाओं को चुनौती दी जाने वाली है। जातियों का उद्भव ने यह कर दिखाया। इसको लिखने की शैली रोचक थी और जन-साधारण के बड़े भाग को इसके द्वारा मनमोहक पठन सामग्री मिली।

विवाद के जिस तूफान की आशंका थी उसके फूटते देर नही लगी। लेकिन डार्विन इससे बाहर—डाउन में—रहा। सत्य के प्रत्यक्ष रूप का मान करने वाले सच्चे वैज्ञानिक की तरह वह अपने विचार बदलने से इन्कार करता रहा हालांकि उनका, विशेषतः पादरियों की तरफ से, घोर विरोध हो रहा था। वह

वादविवाद से सकुचाता था और इसका अभ्यस्त भी नही था। अत. उसने सार्वजनिक वादविवाद का काम थोमस हक्सले तथा हुकर जैसे अपने समर्थकों के जिम्मे छोड दिया।

इस वादविवाद की तीव्रता तो अब लिखित इतिहास का भाग बन चुकी है। विज्ञान के किसी आविष्कार का जनसाधारण की विचारधारा पर इतना प्रभाव शायद ही कभी पडा हो। थोमस हक्सले तथा पादरी विल्बरफोर्स का शास्त्रार्थ तो कभी भुलाया नही जा सकेगा। कम से कम एक राज्य तो ऐसा है जिसके स्कूलो मे विकास के सिद्धान्तों का अध्यापन अभी तक कानूनन मना है। टेनेसी राज्य के डेटन नगर के एक स्कूल के अध्यापक थोमस स्कोप्स पर १९२५ के जुलाई मास मे मुकदमा चलाया गया था; क्लेरेंस डेरो तथा विलियम जेनिंग्स ब्रायन इसमे एक दूसरे के विरोधी वकील के रूप में खड़े हुए थे; मुकदमे के परिणामस्वरूप साहसी अध्यापक श्री स्कोप को सजा मिली थी; लेकिन वादविवाद की धूल फिर भी बैठी नही।

डार्विन के विचार तथा इनमे हुए बाद के संशोधन, मेंडल के आनुवंशिकता विज्ञान, आइन्स्टाइन के आपेक्षिकता-सिद्धान्त तथा फ्रायड के मनोविश्लेषण जैसे उन विचारों की श्रेणी मे स्थान पा चुके है जो पिछले सौ सालों मे उभरते तथा विश्व को आन्दोलित करते रहे है। अब इन विचारों से वादविवाद का तूफान नही उठता, अधिकाश स्थानों पर विज्ञान तथा ईसाइयत का झगड़ा सुलझ चुका है, विवेकी लोगो की दृष्टि मे एक आधुनिक धार्मिक विश्वास तथा विकास के सिद्धान्तों मे कोई मौलिक असंगतता नही है।

उद्भव (दी ओरिजिन) के प्रथम प्रकाशन के बाद भी डार्विन ने पूरे तेईस सालों का रचनात्मक जीवन विताया। इसमे उसने दूसरे विषयो की ओर ध्यान दिया जिनमे से कुछ ये हैं. आर्किडों का निषेचन, मनोभावों की अभिव्यक्ति, आरोही पादप, फूलों के विभिन्न रूप, पौधों में गति की शक्ति। उसकी मृत्यु से एक साल पहले तक भी इन तथा अन्य विषयो पर पुस्तकें प्रकाशित होती रही, इनमे से अनेक उन सरल, सुकल्पित परीक्षणो के परिणाम थी जो उसने अपने अध्ययन कक्ष मे तथा डाउन के बागीचों मे किए थे। इनमे से कुछेक तो उद्भव (दी ओरिजिन) से भी बढिया ग्रन्थ माने जाते है।

फिर भी, दी ओरिजिन (उद्भव) की स्थिति डार्विन के जीवन के सबसे महत्वपूर्ण पहलू के रूप में कायम है। इसके प्रथम संस्करण के बाद के वर्षों मे भी डार्विन इस पर कार्य करता रहा। उसने अपने मन को इतना निष्पक्ष रखा हुआ था कि पुस्तक के अगले छ: सस्करणों मे अपने मूल विचारों को भी निःसंकोच संशोधित करता रहा। प्राकृतिक वरण तथा योग्यतम की अतिजीविता

सम्बन्धी उसके प्रारम्भिक सिद्धान्त, बाद के वैज्ञानिक अनुसधान के प्रकाश मे, कुछ परिवर्तित हो गए है लेकिन उसके मूल विचार अब भी कायम है। उसने संसार को विशालतम व्यापकता के महत्व का ऐसा सिद्धान्त प्रदान किया है जिसके आधार पर हम यह समझने मे अधिकाधिक सफल होते जा रहे है कि हम कौन हैं, और अपने वर्तमान रूप को किस प्रकार प्राप्त हुए है।

७

एक व्यक्ति आविष्कार करता है और...

पेनिसिलिन के आविष्कर्ता का नाम था सर एलेक्जेंडर फ्लेमिंग । वह सकोचशील, शान्तस्वभाव, परिश्रमी तथा बिलकुल ईमानदार व्यक्ति था तथा स्काटलैंड का निवासी था । उसकी मृत्यु १९५५ मे हुई, तब उसकी आयु चौहत्तर बरस की थी । तब तक उसका नाम विश्वविख्यात हो चुका था और जहाँ कही भी वह जाता था उसका स्वागत, सिनेमा-जगत् के प्रसिद्ध अभिनेताओं की तरह होता था । लेकिन इस व्यक्ति मे या उसके महान् आविष्कार को सम्भव करने वाली परिस्थितियो मे ऐसी कोई बात नही थी जैसी कि सिनेमा के अभिनेताओं को प्रसिद्धि प्रदान करती है । उसने एक छोटी-सी, थोडे से सामान वाली प्रयोगशाला मे बरसो कठोर परिश्रम किया था । उसके कार्य का किसी को ज्ञान नही था और उसके प्रकाशित होने के प्रायः दस साल बाद तक भी इसके महत्त्व को किसी ने स्वीकार नही किया था । पेनिसिलिन की कथा के कई महत्त्वपूर्ण मोड़ों पर भाग्य ने भी बडी भूमिका अदा की थी लेकिन भाग्य के इन उपहारो को एक ऐसा मस्तिष्क ही ग्रहण कर सकता था जो उनके सामने आते ही उन्हे पहचान सकता था । पेनिसिलिन इस बात के उत्तम उदाहरणों मे से है कि एक आविष्कर्ता, अपने सामर्थ्य भर प्रयत्न करके एक आविष्कार को एक अवस्था विशेष तक पहुंचाता है और बाद के अनुसधानकर्ताओं का एक दल, सहकारितापूर्ण प्रयत्नो द्वारा इसका लाभ उठाता

है, उसको विकसित करता है और एक निष्पन्न तथा अत्यन्त उपयोगी रूप में विश्व के अर्पण कर देता है ।

स्काट्लैंड की अपनी छोटी-सी खान्दानी जमीदारी को छोड़ कर फ्लेमिंग युवावस्था मे ही लंदन आ गया था । बाल्यावस्था में ही उसने प्रकृति से प्रेम करना तथा प्रत्येक वस्तु को उसकी परिस्थिति में देखना सीख लिया था । डार्वेल गाव के, एक कमरे वाले स्कूल से उसके फार्म तक के चार मील के पैदल रास्ते की शायद ही कोई चीज उसकी पैनी निगाह से बचती हो । सो, कोई ताज्जुब नहीं कि लंदन के एक दफ्तर की क्लर्की मे वह बहुत दिन नही काट सका और इसके स्थान पर चिकित्साशास्त्र की शिक्षा की तलाश करने लगा ।

यह शिक्षा उसने शानदार सफलता के साथ लंदन के सेंट मेरीज हास्पिटल मेडिकल स्कूल में प्राप्त की । बाद में इसी स्कूल मे वह अन्तेवासी चिकित्सक (इंटर्न) भी रहा तथा शल्यचिकित्सा का प्रशिक्षण भी प्राप्त करता रहा । यहीं उसने अपना शेष जीवन, अध्यापक तथा अनुसंधानकर्ता के रूप मे बिता दिया । वह शल्यचिकित्सा का व्यवसाय अपनाने की तय्यारी कर ही रहा था कि आकस्मिक घटनाओ की शृंखला में से प्रथम आ उपस्थित हुई और उसे उस रास्ते पर डाल गई जिस पर चलता-चलता वह पेनिसिलिन तक पहुँचा था ।

सेंट मेरी के उन दिनों के अमले के सबमे प्रतिभाशाली सदस्यों में से एक था डाक्टर आमरोथ राइट । उसने एक टीका लगाने के केन्द्र की स्थापना की थी जो उस चिकित्सा-विद्यालय के एक पृथक् विभाग के रूप मे काम करता था, टीके की दवाओं (वैक्सीनों) पर अनुसधान करता था और कतिपय रोगों के लिए उनका उत्पादन भी करता था । डाक्टर राइट, शिकार का बहुत शौकीन था, अच्छा निशानेबाज था और सेंट मेरी के राइफल क्लब में कुछ नए मेम्बरो की भर्ती करना चाहता था । अभी हाल ही यह क्लब, लंदन के चिकित्सा-विद्यालयों के बीच हुए, बन्दूक से निशाना लगाने के मुकाबलों मे मात खा चुका था और राइट का युवा सहयोगी फ्रीमैन, इसे सुधारने के लिए बहुत उत्सुक था । उसने पूछताछ शुरू की ताकि हस्पताल मे रहकर काम करने वाले डाक्टरो मे से कुछ अच्छे निशानेबाजों का पता चले । किसी ने फ्लेमिंग की प्रशसा कर दी और बताया कि वह हस्पताल के कवायद-दल में अपनी निपुणता दिखा चुका है । फ्रीमैन को पता चला कि फ्लेमिंग एक शल्य-चिकित्सक है और अपना प्रशिक्षण समाप्त करके हस्पताल से चला जायगा । उसके मन मे विचार उठा कि फ्लेमिंग को राइट के टीका-केन्द्र में नौकरी

दिलवा दी जाय ताकि वह सेंट मेरी वालों की राइफल-टीम के लिए सुलभ रहे। जब फ्रीमैन ने राइट को आश्वस्त कर दिया कि जब तक फ्लेमिंग को शल्यचिकित्सक के तौर पर कोई अच्छी नौकरी नही मिलती तभी तक वह इस नौकरी मे रहेगा तब राइट ने फ्लेमिंग को नौकरी मे ले लिया। लेकिन फ्लेमिंग फिर कभी शल्यचिकित्सा के क्षेत्र मे लौटा ही नहीं। उसे यह नौकरी पक्की प्रतीत हुई, उसे सूक्ष्म जीवो के बारे मे बहुत कम ज्ञान था और उन पर काम करने का अवसर मिलने के कारण यह नौकरी उसे शायद रोचक भी प्रतीत हुई और वह इसमे टिका रहा। इस प्रकार, एक अच्छा बन्दूकची होने के कारण यह युवा शल्यचिकित्सक, एक सूक्ष्मजीव वैज्ञानिक बन गया और एक प्रयोगशाला मे पहुँच गया। वहां उसे आमरोथ राइट का साहचर्य प्राप्त हुआ जिससे उस प्रशिक्षण की व्यवस्था हो गई जिसकी उसे आवश्यकता थी और साथ ही वह आकस्मिक प्रेक्षण के महत्त्व को पहचानने के लिए अपने मन को तय्यार करता रहा जिसकी बदौलत तेईस साल बाद पेनिसिलिन उसकी पकड मे आ गई।

बीमारी का हमला सचमुच हो जाने पर, कुदरती तौर पर जो कुछ होता है उसी की नकल कुछ कम खतरनाक तरीके से करके टीके, जिस्म को बीमारी से बचा लेते है। रोगाणुओ को मारकर या कमजोर करके जब इनका टीका शरीर मे लगाया जाता है तो वे शरीर के ऊतको को बचाव के वही प्रतिरक्षी बनाने के लिए उकसाते है जो रोग के दौरान बना करते है। राइट का मत था कि एक समय आयगा कि छूत की सब बीमारियो—रोगाणुओ से होने वाले संक्रामक रोगो—पर इस प्रकार के टीको द्वारा विजय पा ली जायगी। उसकी दृष्टि मे यह इस बात का सुन्दर उदाहरण था कि कैसे प्रकृति के साथ क्रिया करके उसके ही रोगनिवारक प्रक्रमो को उद्दीपित किया जा सकता है और उसने अपनी प्रयोगशाला के सब सहयोगियो को इस विचार से आवेशित कर दिया।

लेकिन उन्ही दिनो जर्मनी के पाल अर्लिक ने संखिया के एक रासायनिक समास का आविष्कार करके उससे एक शानदार सफलता प्राप्त की थी। इस समास का नाम उसने रखा था सैलवर्सन और सिद्ध कर दिया था कि यह सिफिलिस (आतशक, उपदश या फिरग रोग) को उत्पन्न करने वाले रोगाणु का शक्तिशाली मारक था। इस आविष्कार ने रसायन-चिकित्सा नाम के क्षेत्र का सूत्रपात कर दिया; इसने रोग की चिकित्सा ऐसे रसायनो द्वारा की जाती है जिनका निर्माण मानव, कृत्रिम तौर पर, प्रयोगशाला मे करता है।

फ्लेमिंग की कल्पनाशक्ति को, ऐसे रासायनिक पदार्थों द्वारा रोगाणुजनित रोगो के नियत्रण की सम्भावनाओ ने आवेशित कर दिया जिनमे से

डा० फ्लेमिंग
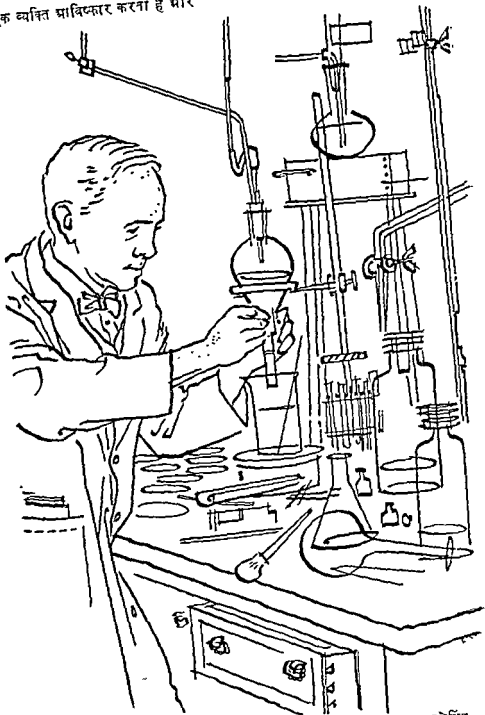
प्रत्येक किसी विशिष्ट रोगाणु या रोगाणुसमुदाय को नष्ट करने के इरादे से बनाया गया हो। लेकिन आमरोथ राइट, जो उसका शिक्षक था और जिसका वह बहुत सम्मान करता था, यही समझता रहा कि संक्रामक रोगों के नियंत्रण में रसायन-चिकित्सा वह कुछ नहीं कर सकती जो प्रकृति के अपने रसायन—प्रतिरक्षी—कर सकते हैं।

ऐसा लगता है कि इन दो विचारधाराओं के परिणामस्वरूप फ्लेमिंग का मत यह बन गया था कि जीवित पदार्थ केवल विशिष्ट प्रतिरक्षियों का ही निर्माण नहीं करते अपितु और भी ऐसे अनेक रसायनों का उत्पादन करते हैं जो जीव को रोगोत्पादक रोगाणुओं से बचाते हैं। फ्रांस का महान् सूक्ष्मजीव

डा० अर्लिक

वैज्ञानिक लुई पास्चर यह देख चुका था कि अगर दो प्रकार के रोगाणुओं को किसी प्राणी में इंजेक्शन द्वारा एक साथ प्रविष्ट किया जाय तो एक प्रकार के रोगाणु, दूसरे प्रकार के रोगाणुओं को मार देते हैं। इस प्रकार के प्रभाव का तात्पर्य था कि एक प्रकार का रोगाणु, कोई ऐसा रसायन पैदा करता है जो दूसरे प्रकार के रोगाणु को मार देता है। ऐसे पदार्थ को एंटिबायोटिक (प्रतिजैविक पदार्थ) या "जीवनविरोधी" कहा जाता है। फ्लेमिंग सोच में पड़

गया, कहीं पास्चर का प्रेक्षण प्रतिजैविक रक्षण के किसी ऐसे अति विशाल-तर प्रक्रम का उदाहरण मात्र तो नही था जो मानव पर भी लागू होता हो। क्या मानव के अपने ऊतक भी, स्वाभाविक तौर पर ऐसे प्रतिजैविक पदार्थों का निर्माण करते है जो उसके अंगों की रोगाणुओं के आक्रमण से सतत रक्षा करते रहते है ?

सन् १९२२ की बात है। किसी ऐगार युक्त संवर्धन-तश्तरी में कुछ जीवाणुओं की वृद्धि हो रही थी। फ्लेमिंग प्रेक्षण कर रहा था। जीवाणु, ऐगार पर पलते हैं। फ्लेमिंग को जुकाम लगा हुआ था। उसने अपने नाक की थोड़ी सी श्लेष्मा को ऐगार पर लगा दिया था और यह जीवाणुवृद्धि उसी में से हो रही थी। इस तश्तरी को देखते-देखते उसका ध्यान एक बहुत विचित्र बात पर पड़ गया। जिस स्थान पर उसने श्लेष्मा को लगाया था उसके साथ के चारों ओर के क्षेत्र में जीवाणुओं की वृद्धि नही हो रही थी और ऐगार का पृष्ठ स्वच्छ था। इससे कुछ परे, वृद्धि अपसामान्य तथा हलकी थी। सिर्फ ऐगार पृष्ठ के वाह्यतम किनारों पर, चारों तरफ जीवाणुवृद्धि सामान्य तथा भारी थी।

फ्लेमिंग बहुत रोमांचित हो उठा क्योंकि इस प्रेक्षण में इस बात का संकेत था कि उसके नाक की श्लेष्मा में न सिर्फ जीवाणु थे अपितु कोई ऐसा पदार्थ भी था जो जीवाणुओं को मार भी सकता था। जिन प्राकृतिक प्रति-जैविकों की बावत वह सोचा करता था, क्या यह उनमें से कोई हो सकता था।

असाधारण उत्सुकता के साथ उसने उस परीक्षण को दोहराया। वही कुछ फिर देखने मे आया। आगे चलकर उसने यह भी पाया कि अगर वह इस श्लेष्मा का जरा-सा अंश किसी परीक्षण नली में पड़े ऐसे मांसरस-संवर्धन में लगाता है जो भारी जीवाणु-वृद्धि के कारण गंदला हुआ है तो कुछ ही मिनटों में मांसरस स्वच्छ हो जाता है। श्लेष्मा में यह जो कुछ भी था, न सिर्फ जीवाणुओं को मार देता था बल्कि उन्हें विलीन भी कर देता था।

फ्लेमिंग ने इस पदार्थ की तलाश अन्य स्रावों में भी शुरू कर दी जो शरीर के खुले भागों को ऐसे ही तर रखते हैं जैसे कि श्लेष्मा नाक के अस्तर को रखती है। उसने अगला परीक्षण आंसुओं पर किया। उसने और उसके सहायक ने निम्बुओं को चूसा और अपने आंसू इकट्ठे किए। जब आंसू-द्रव को वर्धमान रोगाणुओं वाली किसी तश्तरी पर लगाया जाता था या किसी गदले मांसरस-संवर्धन में मिलाया जाता था तो श्लेष्मा के प्रयोग के मुकाबले रोगाणु और भी तेजी से विलीन हो जाते थे। इसके बाद फ्लेमिंग ने न जाने कितने प्रकार के रोगाणुओं पर आंसुओं का प्रयोग किया। उसने देखा

कि ग्रासू उनमें से कुछेक को विलीन करते है, दूसरों को नही। इन प्रेक्षणों ने सकेत दिया कि शरीर के अग सम्भवतः ऐसे पदार्थों को स्रावित करते हैं जो उन्हें कुछेक रोगों से बचाए रखते है। उसने सोचा कि रोग शायद उन रोगाणुओं से उत्पन्न होते है जिन्हे शरीर के अपने प्रतिजैविक नष्ट नही कर सकते। फ्लेमिंग ने नाक की श्लेष्मा मे तथा आंसुओं मे पाए जाने वाले इस प्रथमाविष्कृत प्रतिजैविक का नाम रखा लाइसोज़ाइम क्योंकि इससे रोगाणुओं का लाइसिस अर्थात् विलयन हो जाता था। शब्द मे ज़ाइम की उपस्थिति का कारण उसका यह विश्वास था कि यह पदार्थ एंज़ाइम कहलाने वाले जीवित रसायनो के वर्ग का है। अब यह सिद्ध किया जा चुका है कि लाइसोज़ाइम, अनेक जीवित प्राणियो व स्रावो मे होता है।

लाइसोज़ाइम सम्बन्धी अनुभव की इस पृष्ठभूमि के रहते यह बिलकुल स्वाभाविक था कि सात साल बाद, १९२९ में, फ्लेमिंग ने पेनिसिलिन का आविष्कार कर लिया। परिस्थितिया तथा प्रेक्षण, कई दृष्टियों से बिलकुल वैसे ही थे और लाइसोज़ाइम वाले अनुभव ने उसे ऐसा आविष्कार करने के लिए तैयार कर रखा था।

फ्लेमिंग इस बात का हमेशा ख्याल रखता था कि संवर्धनों वाली अपनी तश्तरियो या नलियो को फेंक न दिया जाय और वह प्रयोगशाला मे विद्यार्थियों को भी सचेत रखता था कि अपने सवर्धनो को कुछ काल सम्हाल कर रखा करें और कभी-कभी उनमें होने वाली जीवाणुवृद्धि का प्रेक्षण करते रहा करें। वह कहा करता था, "कौन जाने, आपकी नजर किसी ऐसी बात पर पड़ जाय जिसे आप पहले कभी समझ नही पाए हो।"

उसकी छोटी-सी पिचपिची प्रयोगशाला मे एक खिड़की ऐसी थी जो सेंट मेरी के चिकित्सा विद्यालय की पिछली तरफ से गुजरने वाली प्रीड स्ट्रीट नाम की सड़क पर खुलती थी। इस खुली खिड़की के साथ पड़ी बेंच पर, ऐगार पर पलते हुए जीवाणुओ वाली संवर्धन-तश्तरियो के ढेर लगे रहते थे। इस खिड़की के पास खड़ा होकर और अपनी पेट्रीडिशों (तश्तरियों) पर लगे कांच के ढक्कन उठा-उठा कर फ्लेमिंग, ऐगार पर बनने वाली गोल-गोल जीवाणु-आबादियों को क्षण भर देखता, उनके आकार, रंग तथा बनावट को नोट करता और यह भी कि वे एक-सी दीखती है या भिन्न-भिन्न प्रकार की। वह ऐसी सब बातें नोट करता जिनसे उसे उन जीवाणुओं की प्रकृति सम्बन्धी कुछ भी ज्ञान मिलता हो जिनका वह अध्ययन कर रहा होता था।

अगर सूक्ष्मजीव-वैज्ञानिक अपने जीवाणुओं को "शुद्ध सवर्धन" के रूप में इस प्रकार सवर्धित करना चाहता है कि जीवाणुपोष पदार्थ पर एक ही प्रकार

के जीवाणु रहे तो उसे बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है कि अन्य जीवाणु या फफूंद तश्तरी पर या माँसरस मे पड कर शुद्ध सवर्धन को सदूषित न करें। इन सदूषकों से सूक्ष्मजीव वैज्ञानिक बड़े परेशान रहते है और इन से बचाव के लिए क्या कुछ नही करते ?

सन् १६२८ जा रहा था। एक दिन फ्लेमिंग का एक सहयोगी—नाम था, प्राइस—उसे मिलने उसकी प्रयोगशाला मे आया। फ्लेमिंग उस समय अपने ऐगार-सवर्धनो मे बनी, एक प्रकार के पीले स्टेफिलोकाक्कस की कुछ आबादियो को देख रहा था। उनमे से एक तश्तरी का ढक्कन उठाया तो उसने देखा कि वह एक ऐसे फफूद से सदूषित हो चुकी थी जैसा कि बासी डबल रोटी या फल पर पलता है। यह फफूंद शायद प्रीड स्ट्रीट पर खुलने वाली खिड़की से आन पडा था और अब पोषक ऐगार पर गोल-गोल, नर्म-नर्म नमदे जैसी चटाई की शकल मे सवर्धित हो गया था। फ्लेमिंग की निगाह तत्काल एक खास बात पर पडी और उसने वह प्राइस को भी दिखाई। फफूंद के साथ लगे चारों ओर के क्षेत्र मे स्टेफिलोकाक्कसो की कोई आबादिया नही बन रही थी। यह सब भी लाइसोज़ाइम जैसा ही प्रतीत हो रहा था। फर्क इतना ही था कि इस बार श्लेष्मा या आसुओ के स्थान पर एक फफूद पड़ा था। क्या फफूंद से कोई ऐसा प्रतिजैविक बन रहा था जो ऐगार में कुछ दूर तक विसरित होता जा रहा था और जीवाणुओं को मारता या उनकी वृद्धि को रोकता जा रहा था ?

फ्लेमिंग ने फौरन कार्यवाही की। उसने उस पेट्री-डिश को सम्हाल कर रख दिया। मगर रखने से पहले उसने एक पतली सी तार के फंदे के द्वारा उस फफूद के कुछेक बीजाणुओ (स्पोरो) को एक अन्य निर्जर्म ऐगार तश्तरी पर प्रतिरोपित कर दिया, उसे कई दिनो तक कक्ष-तापमान पर ऊष्मायित किया; तब तक जब तक कि उसके ऐगार पर फफूद की एक और नर्म-नर्म और गोल-गोल आबादी नही बन गई। अब उसने उस ऐगार पर एक-एक करके अनेक प्रकार के जीवाणुओ को स्थानान्तरित किया; वह उन्हें तश्तरी के मध्य में स्थित फफूद-आबादी से बाहर की तरफ, पहिए के अरो की तरह रेखाओं मे लगाता था। फिर उस तश्तरी को ढक देता था और रात भर ऊष्मायित करता था। अगले दिन जीवाणु पृथक्-पृथक् बनो ऐसी सीधी पट्टियों मे संवधित हुए दीखते थे जो फफूंद से बाहर की ओर विकिरित हो रही होती थी। फ्लेमिंग यह देख कर आनन्दित हुआ कि कुछेक जीवाणुओ की आबादिया सवर्धित होती हुई फफूंद के किनारे से एक खास दूरी तक पहुंची है और फिर रुक गई हैं जब कि दूसरों की ठीक फफूंद तक जा पहुंची है। उसने

उसका मतलब यह निकला कि इस फफू द के कारण पृथक जीवाणु तो मर जाते है, दूसरे नही मरते ।

इससे भी अधिक खुशी फ्लेमिंग को जिस बात से हुई वह यह थी कि इस फफू द से मरने वाले पृथक जीवाणु वे थे जो रोग पैदा किया करते हैं। अब इस फफू द मे पैदा होने वाला प्रतिजैविक, लाइसोजाइम जैसा नही था। यह रोगोत्पादक जीवाणुओ को मारता था अत , सम्भवत , मानव रोगों की चिकित्सा मे काम आ सकता था। फ्लेमिंग के सामने यह सम्भावना एकदम स्पष्ट हो गई।

अब उसने इस फफू द को एक प्रतिपोष्टिक मांसरस मे संवर्धित किया और जब इसके पृष्ठ पर फफूंद की मोटी चटाई बनने लगी तब उसने देखा कि फफूंद के नीचे का मांसरस, भूसे के जैसा पीला रंग पकडता जा रहा है। इस पर उसने संवर्धन तश्तरियाँ तैयार की और उनके ऐगार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक-एक नाली बना दी। प्रत्येक नाली मे पीले रंग का वह द्रव थोड़ा-थोड़ा भर दिया। भिन्न-भिन्न जीवाणुओ की लकीरें ऐगार के किनारे से लेकर नालियो तक लगा दी गई और तश्तरी को ऊष्मायित किया गया। जो कुछ समस्त फफूंद के मामले मे हुआ था वही अब भी हुआ। कुछ जीवाणुओं ने नाली से कुछ फासले पर संवर्धित होना बन्द कर दिया था, शेष, भारी मात्रा मे ठीक नाली के किनारे तक संवर्धित होते गए।

इस प्रकार, फ्लेमिंग ने सिद्ध कर दिया और शक की गुंजायश नहीं छोडी कि यह फफूंद कोई ऐसा रसायन पैदा करता है जो इससे निकल कर कुछ फासले तक ऐगार मे विसरित होता जाता है और इस ऐगार मे उपस्थित जीवाणुओ की कुछ किस्मो को मार देता है या उनकी वृद्धि को रोक देता है। यह अनुभव करके वह बडा रोमांचित हुआ कि अगर वह इस फफूंद-रस को बडी मात्राओ मे पैदा कर सका तो यह रुधिर विषवतन जैसे कतिपय ऐसे जीवाणुजनित रोगो के लिए चमत्कारी चिकित्सा सिद्ध हो सकता है जो प्रायः सदा ही मानव के लिए घातक सिद्ध होते हैं। फ्लेमिंग ने इस फफूंद की सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षा की और उसे पेनिसिलियम वर्ग से सम्बद्ध, डबलरोटी पर लगने वाले एक फफूंद की एक किस्म का पाया। अत. उसने इस फफूंद के रस मे उपस्थित अपने नए प्रतिजैविक को "पेनिसिलिन" की संज्ञा दे दी।

अब फ्लेमिंग इस बात के लिए उत्सुक था कि पेनिसिलिन को फफूंद-रस मे पृथक् करे, इसे शुद्ध क्रिस्टलों की शक्ल मे हासिल करे और इसकी काफी तादाद जमा करके जाच कर सके कि इससे पशुओ तथा मानव को हानि तो

नही पहुँचेगी और कि क्या यह संक्रामक रोगों का इलाज भी सचमुच और उसी कमाल के साथ करेगी जिसके साथ यह सवर्धन-तश्तरियों मे जीवाणुओं को मारती है। लेकिन फ्लेमिंग कोई रसायनशास्त्री नही था और शुद्ध पदार्थों को प्राप्त करने की विधि नही जानता था। इससे भी बढकर, ऐसा लगता था कि वह किसी रसायनशास्त्री को, अपने साथ काम करने मे रुचि पैदा नही कर सका।

बात तो अजीब है लेकिन जब उसने १९२९ के फरवरी मास में अपने आविष्कार की घोषणा लदन की मेडिकल रिसर्च क्लब (चिकित्सा अनुसंधान-सभा) के सामने की तो न तो किसी ने कोई सवाल पूछे और न किसी ने कोई विचारविमर्श किया। ऐसा लगता था कि उस आविष्कार का किसी पर कोई खास प्रभाव नही पड़ा और यह बेरुखी छह साल और बनी रही।

लेकिन फ्लेमिंग ने निष्ठा का दामन नही छोड़ा। वह आश्वस्त था कि उसने मानव जाति के लिए अत्यन्त महत्त्व की कोई चीज आविष्कृत की है और वह जानता था कि जल्दी या कुछ देर से कोई न कोई व्यक्ति मिल जायगा जो कि इस नए प्रतिजैविक को ऐसे रूप में पृथक् कर देगा जो उन अपद्रव्यो से रहित होगा जिनके कारण इसका इजेक्शन मानव के लिए खतरनाक हो सकता है। फ्लेमिंग की आशा पूरी तो हुई मगर छह साल से पहले नही।

उस समय उसकी प्रयोगशाला में दो युवक डाक्टर थे; रिडले तथा क्रेडक। कुछ बरस पहले रिडले ने फ्लेमिंग के कहने से लाइसोजाइम को शुद्ध किया था। अब फ्लेमिंग ने उसे कहा कि वह क्रेडक के साथ मिलकर पेनिसिलिन पर भी जतन कर देखे। वे दोनो अपने को इस काम के लिए बहुत योग्य नही समझते थे; फिर भी उन्होंने यत्न करना मान लिया। उन्होंने अपना उपकरण, सेंट मेरी के एक पुराने, तंग गलियारे में लगाया और काम में जुट गए। उनकी विधि यह थी कि फ्लेमिंग के दिए फफूंद-रस में से अधिकांश जल को बाष्प बन कर उड़ने दिया जाय। उन्हें आशा थी कि इस तरीके से सक्रिय पेनिसिलिन इतनी घनी हो जायगी कि उसके क्रिस्टल बन जायगे जिन्हें बाद मे पृथक् करके सुखा लिया जायगा। उन्हें ज्ञात था कि पेनिसिलिन, ऊष्मा से नष्ट हो जाती है अतः वे एक पम्प के ज़रिए कुप्पी (फ्लास्क) में निर्वात पैदा करके वाष्पीकरण का प्रबन्ध करते रहे। सारा यत्न करके और उस रस का यथासम्भव वाष्पीकरण करके उन्हें जो कुछ प्राप्त हुआ वह भूरा सा शरबत जैसा पदार्थ था। यह ठीक है कि इसमें उपस्थित पेनिसिलिन, मूल रस वाली पेनिसिलिन के मुकाबले दस से पचास गुणा तक अधिक सक्रिय थी
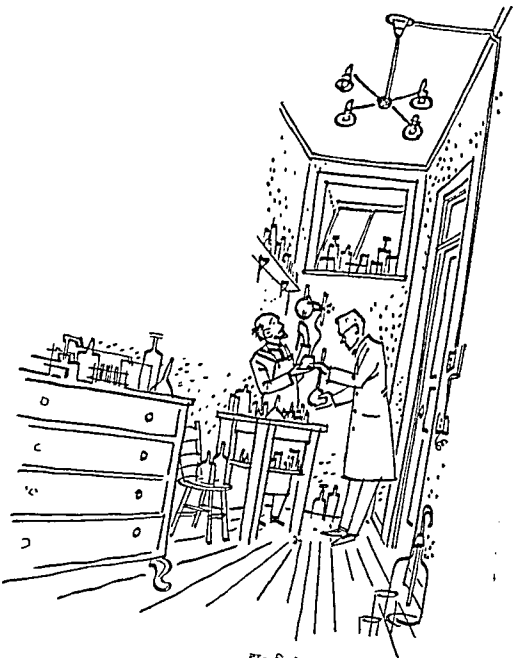
डा० रिटले तथा डा० क्रैडक

लेकिन वे क्रिस्टल की शकल में उसे नहीं बना सके और कुछ दिन सक्रिय रहने केबाद पेनिसिलिन की प्रभावोत्पादकता नष्ट हो गई।

बाद के तजुर्बे की रोशनी मे हम देख सकते है कि रिडले और क्रेडक के कामयाब होने में सिर्फ चन्द कदमों की कसर रह गई थी। लेकिन जहां तक उनका ज्ञान और साज-सामान उनको ले जा सकता था वे गए और फिर उन्हें प्रयत्न छोड़ देने पडे।

इस प्रकार फ्लेमिंग का अकेले का काम तो समाप्त हो चुका था। अपने ज्ञान तथा साधनों के बल पर वह जहाँ तक जा सकता था, जा चुका था। वह पेनिसिलिन के दूसरे पहलुओं पर बीस साल और काम करता रहा लेकिन अब यह काम औरों का था कि पेनिसिलिन को शुद्ध रूप में तैयार करने का महान् यत्न करें, इसकी जाँच करके जानवरों तथा मानव मे होने वाले विषैले प्रभावों का पता लगावें और, अन्ततः, इसे इतनी मात्रा में बनावें कि मानव में होने वाले संक्रामक रोगों में इसका उपयोग हो सके। ये सब काम शानदार कामयाबी के साथ हुए लेकिन किसी अकेले आदमी से नहीं। इनके लिए जरूरत थी एक ऐसे दल के संयुक्त प्रयत्नों की जिसके पास सब आवश्यक दक्षताएं तथा सुविधाएं हों। इस चरण में इंग्लैंड, अमरीका तथा अन्य देशों के अनेक लोगों के सहयोग की आवश्यकता थी और, अन्ततः, कार्य को निष्पन्न करने के लिए औद्योगिक जगत् के विशाल साधनों का भी आश्रय लिया गया। लेकिन इस नए दलीय प्रयत्न में जिन दो व्यक्तियों ने मुख्य भूमिकाएं अदा कीं वे थे, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के डाक्टर फ्लोरे तथा डाक्टर चेन। सन् १९४५ का चिकित्सा सम्बन्धी पुरस्कार इन दोनों को तथा फ्लेमिंग को संयुक्त रूप से दिया गया था।

फफूंद-सदूषित तश्तरी के जिस मूल प्रेक्षण ने फ्लेमिंग को "पेनिसिलिन" को जन्म दिया था वह १९२८ मे किया गया था और जनसाधारण के सामने १९२९ मे प्रस्तुत किया गया था। इस प्रेक्षण का महत्व लगभग दस साल उपेक्षित रहा लेकिन, अन्ततः, उस अकेले व्यक्ति को जिसने यह प्रेक्षण किया था, मान्यता दी गई, सब सम्भव सन्मान मिले तथा सार्वजनिक श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं और उठाकर कीर्ति के शिखर पर बिठा दिया गया। फ्लेमिंग के बारे मे याद रखने की बात यह है कि यद्यपि, एक दृष्टि से उसका आविष्कार दैवयोग का परिणाम था लेकिन उसकी पकड़ इसलिए सम्भव हुई क्योंकि फ्लेमिंग अपनी दृष्टि और मन को, ठीक-ठीक प्रेक्षण करने के लम्बे अभ्यास द्वारा सधा चुका था। इस आविष्कार का जन्म हुआ एक ऐसे मन से जिसने दीर्घ चिन्तन के बाद एक विचार का निर्माण किया था, और उस विचार से जिसने पहले इस व्यक्ति को लाइसोजाइम को दृष्टिगत करने दिया और इस प्रकार उसे

तैयार कर दिया कि बाद में जब उसने अकस्मात् पेनिसिलिन को देखा तो उसे पहचान लिया। और इस बात को भी निश्चय से कौन कह सकता है कि यह सब, वस्तुतः केवल दैवयोग ही था ?

८

...एक दल उसके काम को सिरे चढ़ाता है

जब फ्लेमिंग ने अपने आविष्कार की घोषणा की थी, उसके बाद प्रायः दस साल तक पेनिसिलिन की तरफ किसी का ध्यान नही गया और ऐसा लगता था कि यह विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो जायगी। लेकिन फ्लेमिंग, उम्मीद का दामन थामे रहा। अब आवश्यकता इस बात की थी कि लोगों का एक बड़ा सा दल हो, जिसमें तरह-तरह की दक्षता के लोग हों, जो ऐसे शुद्ध पदार्थ को पृथक् कर सकें जो फफूंद-द्रव के अपद्रव्यों से रहित हो और जो इसे इतनी बड़ी मात्राओं मे बना सके कि इसकी रासायनिक संरचना निर्धारित की जा सके। फिर, प्राणियों पर प्रयोग करके यह जांचना सम्भव होगा कि इससे कोई विषैले अनिष्ट प्रभाव तो पैदा नही होते, और उसके बाद इसकी संक्रामक रोग चिकित्सा सम्बन्धी क्षमता जांची जा सकेगी। इस सब के बाद, मानव मे होने वाले सक्रमण के वास्तविक मामलों मे इसकी परीक्षा होगी। अगर इस सारे अनुसधान से शुद्ध पेनिसिलिन, आशानुकूल चमत्कारी औषधि सिद्ध होगी तो उद्योगशालाओ को इस बात के लिए तैयार करना होगा कि वे इसका व्यापारिक पैमाने पर निर्माण हाथ में लें।

यह घटनाचक्र १९३५ में ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्रारम्भ ह
विलियम डन इंस्टीट्यूट आफ पैथोलोजी नाम के सुन्दर से [illegible]

की स्थापना लंदन में अभी-अभी हुई थी और आस्ट्रेलियन डाक्टर हावर्ड फ्लोरे इसमें शरीर-विकृति-विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त हुआ था। वह फ्लेमिंग के लाइसोजाइम के आविष्कार पर मुग्ध हो गया था और उस पर कार्य करने का निश्चय कर चुका था। इन इंस्टीट्यूट में जीवाणुविज्ञान और जीवरसायन के विभागों के साथ-साथ रोगविज्ञान का विभाग भी था और इन तीनों क्षेत्रों के लिए, फ्लोरे आदमी जुटा रहा था। विटामिनों का आविष्कर्ता सर फ्रेडरिक गाउलैंड हौपकिन्स उन दिनों कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में जीवरसायन का प्रोफेसर था और स्वाभाविक था कि किसी प्रतिभाशाली युवा जीवरसायनज्ञ की तलाश में फ्लोरे उसका मशवरा लेता। हौपकिंस ने एक व्यक्ति का सुझाव दिया जो उसके विचार में उन योग्यताओं से लैस था जिसकी फ्लोरे को तलाश थी। नाम था, डाक्टर ई० बी० चेन।

चेन का जन्म बर्लिन में हुआ था। उसकी माता जर्मन थी और पिता रूसी। उसने जीवरसायन की स्नातक परीक्षा बर्लिन विश्वविद्यालय से प्राप्त की थी। चूंकि वह यहूदी था अत., जब हिटलर तथा नाजियों ने यहूदियों पर अत्याचार शुरू किया था तब वह जर्मनी से इंग्लैंड चला आया था। पहले वह लंदन विश्वविद्यालय में तथा बाद में कैम्ब्रिज में काम करता रहा था। फ्लोरे ने आक्सफोर्ड की इस नौकरी का प्रस्ताव चेन के सामने रखा और उसने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

फ्लोरे ने सुझाव दिया कि चेन पहले लाइसोजाइम पर अनुसंधान करे। चेन ने उसमें रुचि दिखाई और उत्साह तथा विचारशीलता के साथ इसे प्रारम्भ कर दिया। फ्लोरे के एक सहयोगी, डाक्टर अब्राहम ने जो शोधित लाइसोजाइम तैयार किया था, उसी का वह उपयोग करता रहा। फ्लेमिंग की तरह चेन भी लाइसोजाइम को एक एंजाइम ही मानता था और अपने शोधकार्य से उसने इस विचार को सत्य भी सिद्ध कर दिया। उसने यह भी पता लगा लिया कि लाइसोजाइम, जीवाणुओं की उस बाह्य, कठोर भित्ति को खण्डित कर देता है जो रासायनिक तौर पर शर्कराओं तथा निशास्तों के वर्ग के एक पदार्थ, पोलीसैकेराइड की बनी होती है और इस प्रकार जीवाणुओं को विलीन कर देता है।

लाइसोजाइम सम्बन्धी अनुसंधान समाप्त हो गया था और चेन, अब, एक नई समस्या से निपटने को तैयार था। फ्लोरे की तरह वह भी जीवाणु-विरोधी पदार्थों में गहरी दिलचस्पी लेने लगा था। विश्वविद्यालय के बागीचों में लम्बी-लम्बी सैरें करते समय फ्लोरे तथा वह इस विषय पर बहुत विचार-विमर्श किया करते थे और चेन, इस विषय के साहित्य का गहन अनुशीलन करता रहता था।

इसी दौरान उसकी नजर फ्लेमिंग के १६२६ के पेनिसिलिन सम्बन्धी लेख पर पडा और उसने जो कुछ पढा था उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण उसे यही लगा। उसे उन प्रयत्नों की भाँकी मिली जो रिडले तथा क्रेडक ने पेनिसिलिन को फफूंद-द्रव से पृथक् करने के लिए किए थे। उसने उनके यह बयान भी पढे कि ऊष्मा से या कक्ष-तापमान मे कुछ देर पड़े रहने से भी यह नष्ट हो जाती है। पेनिसिलिन के विचार पर वह मुग्ध हो गया। उसने फ्लोरे के साथ उसकी विस्तृत चर्चा की तो वह भी इसमें दिलचस्पी लेने लगा।

चेन ने निश्चय कर लिया। वह चाहता था कि पेनिसिलिन पर अनुसंधान शुरू करे और इसे फफूंद-द्रव से पृथक् करने का यत्न करे। उसे आशा थी कि वह इसे शुद्ध क्रिस्टलों की शक्ल में प्राप्त कर लेगा। फिर वह इसकी रासायनिक सरचना को तथा जीवाणु-जनित रोग पर इसके प्रभाव को निर्धारित करेगा। फ्लोरे भी सहमत हो गया।

चेन ने सुझाव दिया कि न्यूयार्क के राक्फेलर-संस्थान से प्रार्थना की जाए कि वह उनके अनुसधान की धन द्वारा सहायता करे। और, मानो फिर दैवयोग से ही, इस संस्थान ने उनको पाँच हजार डालर की सहायता भेज भी दी। इस इमदाद से जो काम मुमकिन हुआ उसके नतीजे से मुक़ाबला करें तो यह रकम महज मजाक मालूम होती है।

चेन ने अपना यह अनुसंधान १९३९ के प्रथम मासों मे शुरू किया था, अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से कुछ ही पहले। उसकी इंस्टीट्यूट के एक और सहयोगी ने फ्लेमिंग से किसी और काम के लिए पेनिसिलियम नोटेटम के कुछ बीजाणु (स्पोर) ले रखे थे, उसी से चेन ने भी थोड़े से ले लिए। चेन को फफूंदों तथा उनके सवर्धन के बारे में सब कुछ सीखना पड़ा। अपनी विशिष्टता के मुताबिक वह अपने पूर्ण मनोयोग से इसमे जुट गया और शीघ्र ही अच्छे-अच्छे संदूषण-विहीन संवर्धनों का स्वामी बन गया।

चेन की विशेष जिम्मेवारी तो पेनिसिलिन के पृथक्करण तथा शोधन की थी; लेकिन प्रोग्राम मे यह भी शामिल था कि इस औषधि के रूपों का प्राणियों पर परीक्षण किया जाय तथा जीवाणुओं के शुद्ध संवर्धनों की व्यवस्था की जाय ताकि शरीर के बाहर, उनके प्रभावों की जाच की जाय। इस प्रकार, एक दल बनाकर काम करने के लिए इन इंस्टीट्यूट बहुत उपयुक्त था। चेन का काम था शुद्ध पेनिसिलिन तैयार करना और इसकी रासायनिक संरचना को निर्धारित करना। विषैले, अवांछित प्रभावों की जाच तथा प्राणियों में परीक्षणात्मक संक्रमण का सारा काम फ्लोरे के जिम्मे था।

लाइसोज़ाइम सम्बन्धी अनुभव के कारण चेन ने इसी धारणा से काम

प्रारम्भ किया कि पेनिसिलिन भी एक एंजाइम है। इस वास्ते उसने पृथक्-करण की रासायनिक क्रियाविधि इस प्रकार चलाई मानो वह प्राणि-उतकों में से कोई एंजाइम निष्कासित कर रहा हो। इसका मतलब था अत्यन्त सावधान क्रिया क्योंकि एंजाइम तो प्रोटीन होते हैं और अम्लों, क्षारों, एल्कोहल या उच्च तापमान द्वारा बड़ी आसानी से नष्ट कर दिए जाते हैं। उसने निश्चय किया कि फफूंद-द्रव में के जल के वाष्पीकरण के लिए, जमाकर सुखाने की प्रविधि का उपयोग किया जाय। इस प्रक्रिया का आविष्कार अभी हाल ही हुआ था और मानवरुधिर के जीवद्रव्य (प्लैज़्मा) के परिरक्षण में यह सफल सिद्ध हो चुकी थी।

जमा कर सुखाने के लिए, जिस विलयन का वाष्पीकरण करना हो उसे एक ऐसी कुप्पी में डालकर जमा दिया जाता है जो द्रव-वायु या सूखी बर्फ में धसी होती है, वायु को खींचकर बाहर निकालने वाले एक शक्तिशाली निर्वातक पम्प के जरिए इस कुप्पी में निर्वात पैदा कर दिया जाता है। जब पदार्थों को इस तरीके से जमा दिया जाता है तो उस विलयन का जल ठोस अवस्था से सीधा—द्रव बने बगैर—गैसरूप में परिवर्तित हो जाता है। पहाड़ों की ऊंची तथा बहुत ठंडी चोटियों पर बर्फ, इसी प्रकार, वाष्प बनकर वायु में लीन होती रहती है। इस प्रक्रम के परिणामस्वरूप, जमने से पहले जो पदार्थ जल में विलीन थे उनकी सक्रियता नष्ट नहीं होती और जब जल निकल जाता है तो वे शेष बच रहते हैं।

फफूंद-द्रव पर लागू की गई तो यह विधि एकदम सफल सिद्ध हुई। जमा कर सुखाए द्रव का अवशेष एक भूरा-सा चूर्ण था जिसकी प्रतिजैविक सक्रियता, मूल द्रव के मुकाबले कई गुणा अधिक थी। लेकिन यह चूर्ण अभी अपद्रव्यों से एकदम रहित नहीं था।

इन अपद्रव्यों से छुटकारा पाने के प्रयत्न में चेन ने इस चूर्ण को किसी ऐसे पदार्थ में घोलने की कोशिश की जो पेनिसिलिन को विलीन कर दे मगर अपद्रव्यों को अविलीन रहने दे ताकि वह एक कीप (फनल) पर निस्यंदक-पत्र (फिल्टर पेपर) लगाकर इन्हें आसानी से पृथक् कर सके। वह जानता था कि अगर, उसके विचार के अनुसार, पेनिसिलिन कोई प्रोटीन-एंजाइम है तो कुछेक एल्कोहल इसे नष्ट कर सकते हैं। फिर भी उसने उनको आजमाने का फैसला किया। ईथाइल एल्कोहल में तो यह घुला ही नहीं। लेकिन उस को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मिथाइल एल्कोहल ने इसे घोल दिया और अपद्रव्य बच रहे। उसे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि अगर वह झट-पट बहुत सा पानी मिलाकर एल्कोहल के सान्द्रण (गाढ़ेपन) को विनाशी स्तर

से नीचे ले आवे तो वह पेनिसिलिन को नष्ट होने से बचा सकता था। उसके बाद सिर्फ इतना करना बाकी था कि जमा कर सुखाने का एक और दौर चलाकर वह मिथाइल एल्कोहल तथा जल को निकाल दे। इससे उसके पास जो बारीक चूर्ण बच रहा वह गाढ़े पीले रंग का था। इसको और शुद्ध किया गया और जीवाणुओं के ऐगार-संवर्धन पर आजमाया गया तो साबित हुआ कि इसकी पेनिसिलिन-सक्रियता, फ्लेमिंग के मूल फफूंद-द्रव के मुकाबले तकरीबन हजार गुणा ज्यादा है।

इस बीच, डाक्टर हीटले भी चेन के साथ आ मिला था। इन दोनों ने मिलकर बहुत परिश्रम किया और, आखिरकार इस कीमती पीले पाउडर की इतनी काफी मात्रा पैदा कर ली कि फ्लोरे प्राणियों पर इसके सम्भावित विषैले प्रभावों की जांच कर सके। अनुसंधान का यह एक महत्वपूर्ण चरण था क्योंकि पेनिसिलिन हो चाहे कोई और दवा, मानव-रोग की चिकित्सा में तभी उपयोगी हो सकती है अगर वह रोगाणुओं को तो मारे लेकिन मानव को नुकसान न पहुँचाए। फ्लोरे ने इसके पच्चीस मिलीग्रामों का इंजेक्शन एक चूहे को लगाया। एक छोटे से प्राणी के लिए यह मात्रा अधिक थी लेकिन फ्लोरे यह देखकर प्रसन्न हुआ कि इसने चूहे को कोई क्षति नहीं पहुँचाई। इस कीमती पदार्थ के अगले नमूनों ने भी इस परिणाम को सम्पुष्ट कर दिया। अतः, अब वह समय आ पहुँचा था कि इसके प्रभाव की जांच, प्रयोगशाला में रखे जाने वाले प्राणियों में परीक्षणात्मक रूप से पैदा किए गए जीवाणु-संक्रमण पर की जाय।

सन् १९४० के मई मास में, अर्थात्, डन्कर्क के युद्ध से सिर्फ एक मास पहले, फ्लोरे ने चूहों के एक समूह को तीन प्रकार के जीवाणुओं के इंजेक्शन लगाए; ये सब जीवाणु मानव में मारक संक्रमण पैदा करने वाले हैं लेकिन ऐगार-संवर्धन में पेनिसिलिन इन्हें मार देती थी। जिन वर्गों के ये जीवाणु थे उनके नाम हैं : स्टेफिलोकाक्कस, स्ट्रप्टोकाक्कस तथा क्लोस्ट्रिडियम [इनमें से अंतिम, भयानक गैस-कोथ (गैस-गैंग्रीन) पैदा किया करता है]। पच्चीस चूहों में ये जीवाणु तो प्रविष्ट किए गए थे लेकिन पेनिसिलिन नहीं; इन्होंने अनुपचरित नियंत्रक दल का काम देना था अन्य पचास में ये जीवाणु प्रविष्ट किए गए और नियमित समयांतरालों पर पेनिसिलिन के इंजेक्शन भी दिए गए।

उस रात फ्लोरे प्रयोगशाला में ही सोया। एक सहायक उसे हर दो घंटों बाद जगा देता था ताकि वह अपने प्राणियों का प्रेक्षण कर सके। सोलह घंटों बाद, अनुपचरित चूहों में से सब के सब मर चुके थे लेकिन जिन पचास का उपचार नई शोधित पेनिसिलिन द्वारा हो रहा था उनमें से चौबीस जिन्दा
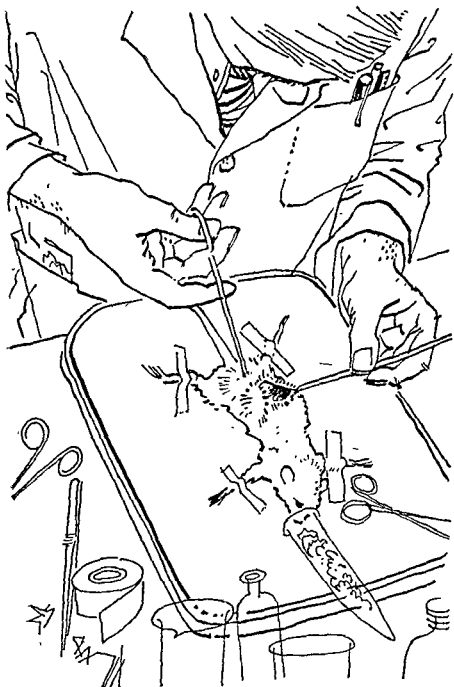
चूहे को परीक्षण के लिए तैयार किया जा रहा है।

थे। यह बात किसी चमत्कार से कम नहीं थी। इन परिणामों की रिपोर्ट इंग्लैंड की लैन्सेट नाम की चिकित्सा-पत्रिका के २४ अगस्त, १९४० के अंक में छपी थी, लेखक थे, फ्लोरे, चेन तथा हीटले।

सर एलेक्जेंडर फ्लेमिंग ने इस लेख को पढ़ा। उसके द्वारा ही उसे पहले पहल आक्सफोर्ड के दल के इस कार्यक्रम का पता चला। इसको जानकर वह अतिरोमांचित हुआ। पेनिसिलिन के जिस रासायनिक पृथक्करण की वह इतनी देर से आस लगाए बैठा था और जिसके प्रयत्न में रिडले तथा क्रेडक के भाग्य ने साथ नहीं दिया था, वह सफल हो गया था। फ्लेमिंग ने आक्सफोर्ड जाकर इस दल से मिलने का संकल्प किया। उसको देखकर चेन हक्का-बक्का रह गया, उसका ख्याल था कि फ्लेमिंग मर चुका है। इस यात्रा के बाद फ्लेमिंग तथा आक्सफोर्ड के उन कार्यकर्ताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। फ्लेमिंग ने उनकी हर सम्भव सहायता करना स्वीकार कर लिया तथा उनके कार्य को स्नेह-स्निग्ध प्रोत्साहन देता रहा।

फ्लोरे, अब, किसी रोगी मानव की चिकित्सा के लिए सन्नद्ध था। चेन तथा हीटले चूर्ण तैय्यार करते गए और इसे उस दिन की प्रतीक्षा मे बर्फ के बक्से मे जमा करते गए जबकि किसी सक्रामक रोग का कोई उपयुक्त रोगी अपने को प्रस्तुत करेगा। और, वह दिन जल्दी ही आ गया।

आक्सफोर्ड के हस्पताल मे पुलिस का एक सिपाही उसी किस्म के स्टेफिलोकाक्कस के कारण रुधिर-विषाक्तन से मर रहा था जो चूहो को दिया गया था। फ्लोरे, चेन तथा हीटले ने अपने कीमती चूर्ण का उपयोग इस व्यक्ति पर करने का सकल्प किया और इसके प्रभाव को दीर्घतम अवधि तक बनाए रखने की दृष्टि से उन्होंने निश्चय किया कि पेनिसिलिन को लवण के एक हलके घोल मे विलीन करके, बूद-बूद की विधि से, शिरा-मार्ग से उसके शरीर मे प्रविष्ट किया जाय। अवाछनीय विषैले प्रभावों की उन्हें विशेष चिन्ता नही थी क्योकि वे देख चुके थे कि चूहो ने कितनी आसानी से इस औषधि को सह लिया था। उन्हे चिन्ता थी तो यह कि शुद्ध पेनिसिलिन की उनकी सीमित सप्लाई, उस व्यक्ति के स्वस्थ होने से पहले समाप्त न हो जाय। लेकिन यह खतरा उठाना भी उचित ही था, आखिर, वह सिपाही भी तो शरीर के सारे वाह्य भाग और आन्तरिक अगो पर निकले फोडो से मृत-प्राय हो चुका था।

सन् १९४१ की १२ फरवरी को उन्होंने उस पुलिसमैन का इलाज शुरू किया। चौबीस घण्टो मे ही उसकी अवस्था मे, नाटकीय ढग से, सुधार हो गया। वह भोजन ग्रहण करने लगा था और उसके फोडे हटने लग गए थे। लेकिन नाटक दुःखान्त हो गया। रोगी के पूर्ण स्वस्थ होने से पहले ही उनकी पेनिसिलिन समाप्त होने लगी थी। इस अनुभूति की वेदना मे विशेष तीव्रता इसलिए थी क्योकि वे जान चुके थे कि अगर वे चिकित्सा चालू रख सकते तो वह रोगी पूर्णतया स्वस्थ हो सकता था। हीटले, जोर शोर से और अधिक पेनिसिलिन बनाने मे जुट गया। यहाँ तक कि उसने उस रोगी का मूत्र संचित किया, इस मार्ग से विसर्जित पेनिसिलिन को नि:सारित कर लिया और इसको पुन रोगी के शरीर में इजेक्शन द्वारा प्रविष्ट कर दिया। लेकिन ये सब प्रयत्न व्यर्थ रहे। उस पुलिसमैन का सक्रमण पुनः पूरे जोर पर आ गया और वह १५ मार्च को मर गया।

इस ठोकर के बावजूद आक्सफोर्ड के ये कार्यकर्ता आश्वस्त थे कि उनके पास एक चमत्कारी औषधि है और कि उन्हें आगे बढने जाना है। कठोर परिश्रम से वह इतनी काफी बना ली गई कि पर्याप्त रोगी मनुष्यो की चिकित्सा जारी रखी जा सकी और शक की कोई गुंजायश नही रही कि यह कतिपय

रोगाणु-जनित रोगों की सफल चिकित्सा थी—इतनी सफल कि मानव ने कभी सपने में भी नहीं सोची होगी।

अब समय आ गया था कि इस औषधि को बड़े पैमाने पर बनाया जाय। चेन तथा हीटले, आक्सफोर्ड में एक प्रारम्भिक सयत्र बनाने भी लगे थे लेकिन पेनिसिलिन की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति तो रसायन तथा औषधि सम्बन्धी उद्योगशालाओं के सारे साधन जुटा कर ही की जा सकती थी। फ्लोरे ने इस बात का जिम्मा लिया कि वह उद्योगपतियों को इस काम के लिए मनाएगा।

उन दिनों इग्लैंड की स्थिति बहुत निराशाजनक थी। उस पर दिन रात बम बरसते रहते थे और हर वक्त जर्मन चढ़ाई का खतरा रहता था। इसलिए स्वाभाविक था कि इग्लैंड के जिन विशाल उद्योगों के पास फ्लोरे गया उन सबने इन्कार कर दिया। वे सब, इग्लैंड को जिन्दा रखने के लिए अत्यावश्यक दूसरी चीजें बनाने के लिए पूर्णतया वचनबद्ध थे और अनुभव करते थे कि फ्लोरे द्वारा प्रार्थित महाप्रयास में घाटे के जो खतरे थे उन्हे वे नहीं उठा सकते थे। ऐसी अवस्था में फ्लोरे ने अमरीका की ओर रुख किया और आक्सफोर्ड के उस सिपाही की करुणाजनक मृत्यु के चार मास बाद, सन् १९४१ के जून मास में, न्यूयार्क के लिए रवाना हो गया। फ्लोरे अपने साथ पेनिसिलियम फफूंद के अनेक विभेद ले गया।

न्यूयार्क मे एक मित्र ने फ्लोरे का परिचय डाक्टर चार्ल्स थोम से कराया, इसी ने ठीक-ठीक पहचाना था कि फ्लेमिंग का मूल फफूंद पेनिसिलियम नोटेटम था। डाक्टर थोम उन दिनों इलिनायस के पिओरिआ नगर में स्थित उत्तरीय अनुसंधान-प्रयोगशाला के फफूंद-विभाग का अध्यक्ष था। इस प्रयोगशाला की स्थापना हाल ही अमरीकी सरकार के कृषि विभाग ने यह पता लगाने के लिए की थी कि कृषि के रद्दी माल (अपशिष्ट उत्पादों) की जिन भारी मात्राओं को मिड्वेस्ट की नदियों में फेंक दिया जाता है उनके क्या उपयोग हो सकते है।

फ्लोरे सारी प्रयोगशाला मे घूमा, उसने प्रत्येक वैज्ञानिक से बात की और अन्ततः किण्वन-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर कागहिल के पास पहुंचा। फफूंदों से ज्यादह पेनिसिलिन पैदा करवाने का तरीका पता लगाने की जो समस्या फ्लोरे के दिमाग में थी उस पर उन्होने विचार-विमर्श किया। कागहिल का मत था कि इसमे सहायता के लिए उसे फफूंद को संवर्धित करने के नए जीवाणुपोष-पदार्थ ढूंढ़ने होंगे और जिस तरह किसान लोग, अधिक दूध तथा गोमांस प्राप्त करने के लिए पशुओं की नस्लें सुधारते हैं उसी तरह

फफूंद के दूसरे विभेदों की तलाश करनी होगी।

जब मक्का से निशास्ते का उत्पादन किया जाता है तो उपोत्पाद के तौर पर एक अतिपौष्टिक तरल पदार्थ बनता है जिसे मक्का-ग्रामज्जक-द्रव कहते हैं। किएवन-प्रयोगशाला, इस "अपशिष्ट उत्पाद" को कोई उपयोगी रूप देने का यत्न करती रही थी। फ्लेमिंग वाले पेनिसिलियम नोटेटम विभेद का रिश्तेदार एक फफूंद होता है, पेनिसिलियम क्राइसोजीनम। इसको, मक्का-ग्रामज्जक द्रव में संवर्धित किया जा रहा था ताकि इस द्रव में उपस्थित ग्लूकोस को, ग्लूकोनिक अम्ल नाम के एक सम्बद्ध रासायनिक पदार्थ में रूपांतरित किया जा सके। पिओरिया के वैज्ञानिकों को यह विचार पसन्द आया कि फ्लोरे तथा हीटले द्वारा लाए गए पेनिसिलियम नोटेटम के बीजाणुओं को अपने कुछ मक्का-ग्रामज्जक-द्रव में संवर्धित किया जाय और देखा जाय कि इससे इस फफूंद के पेनिसिलिन उत्पादन पर क्या प्रभाव होता है। उन्हें यह देख कर हर्ष हुआ कि इसने उत्पादन को बेहद बढ़ा दिया है। फिर, बिलकुल दैवयोग से, उन्हें यह भी पता लग गया कि अगर लैक्टोस (दुग्ध-शर्करा) का मिश्रण कर दिया जाय तो पेनिसिलिन उत्पादन और भी बढ़ जाता है।

इन परिणामों से उत्साहित होकर उन्होंने इस फफूंद के नए विभेदों की तलाश शुरू कर दी। संसार के वैज्ञानिकों को सन्देश भेजे गए कि फफूंद के नमूने भेजें और इन नमूनों को पिओरिया तक पहुँचाने के लिए सेना के वायु-पक्ष की सहायता ली गई। इसके अलावा, प्रयोगशाला में काम करने वाली कुछ लड़कियों के जिम्मे यह काम लगाया गया कि वे पिओरिया के बाजारों में जो भी फफूंद वाले फल या सब्जियां देखें, खरीद लें और लाकर वैज्ञानिकों को दे दें। इन लड़कियों में एक का नाम था मेरी। उसका नाम ही "फफूंदी मेरी" पड़ गया था। एक दिन वह एक फफूंद-युक्त विलायती खरबूजा (कैंटालूप) लाई। इसमें से ऐसा फफूंद-बीजाणु पृथक् किया गया जो पेनिसिलियम क्राइसोजीनम विभेद का सम्बन्धी था। जब इसे लैक्टस-युक्त मक्का-ग्रामज्जक-द्रव में संवर्धित किया गया तो यह फ्लेमिंग द्वारा प्रयुक्त मूल पेनिसिलियम नोटेटम के मुकाबले भी कहीं अधिक पेनिसिलिन पैदा करने वाला सिद्ध हुआ। इस विभेद को वरणात्मक-प्रजनन की आनुवंशिक विधि द्वारा शुद्ध किया गया और आजकल संसार भर में इस फफूंद के जितने विभेद पेनिसिलिन पैदा कर रहे हैं उनमें से अधिकांश, पिओरिया के बाजार से खरीदे गए खरबूजे के फफूंद के वंशज ही हैं। फफूंद के विभेदों तथा संवर्धन के इन सुधारों ने ऐसी पेनिसिलिन पैदा कर दी जो, चेन तथा हीटले की विधि द्वारा शोधित होने के बाद, फ्लेमिंग के मूल फफूंद-रस के मुकाबले, दस लाख गुणा

अधिक सक्रिय सिद्ध हुई।

जब निम्रोरिआ मे यह दल ये सब सफलताएं प्राप्त कर रहा था तभी फ्लोरे अमरीका के दौरे पर निकल चुका था और एक भिन्न प्रकार की सफलता प्राप्त कर रहा था। वह, रासायनिक पदार्थों तथा औषधियों के कई निर्माताओं से मिल रहा था और उनको मना रहा था कि वे पेनिसिलिन का विशाल उत्पादन अपने हाथो मे लें। इसका मतलब था, हजारों गेलनों की मात्रा मे पेनिसिलियम फफूंद को संवर्धित करने के लिए विशाल किएवनकुंड बनाए जाएं; फिर, फफूंद-रस से पेनिसिलिन को निकालने और शुद्ध करने के लिए एक जटिल उपकरण को डिजाइन तथा स्थापित किया जाय और इस प्रकार चेन तथा हीटले की विधियो को विशाल उत्पादन के अनुकूल ढाला जाय। इस सबको और जटिल बनाने वाली शर्त यह थी कि सब कुछ निर्जमित अवस्थाओं मे करना होगा ताकि फफूंद-संवर्धन के विशाल कुंडों को तथा शोधन के प्रक्रम को संदूषित होने से बचाया जा सके।

जैसा कि सहज ही समझ आ जाता है, इस सबके लिए किसी भी कम्पनी को बड़ी भारी रकम लगानी पड़ती। उद्योगपतियो को यह समझते भी देर नही लगी कि कोई प्रतिभाशाली रसायनज्ञ शीघ्र ही पेनिसिलिन-अणु की संरचना का पता लगा लेगा—चेन, सचमुच, पहले ही इस दिशा में काम कर रहा था—और इसके पता लगते ही पेनिसिलिन बनाने के रासायनिक साधन

अवश्य आविष्कृत हो जायेंगे। इसका मतलब होगा कि फफूंद वाला तरीका पुराना पड जायगा और उद्योगपतियों का इस तरीके मे लगाया सारा धन नष्ट हो जायगा।

इन कारणो के रहते यह समझ लेना मुश्किल नही कि उद्योगपति लोग फ्लोरे की तजवीजो के साथ हमदर्दी क्यों नही दिखा सके। फिरउ से कुछ कामयाबी जरूर हुई। दो कम्पनियाँ इस बात पर राजी हो गईं कि वे दस हजार लिटर फफूंद-रस पैदा करेंगी और पेनिसिलिन को, आजमाइश के लिए वापस आक्सफोर्ड भेज देंगी।

उन दिनो पेनिसिलिन जैसे प्रतिजैविक की आवश्यकता बहुत थी और विश्वयुद्ध मे अमरीका तथा जापान के उलझ जाने तथा जख्मियों की तादाद बढते जाने के साथ-साथ और भी ज्यादा होती जाने वाली थी। लडाइयो में मौत का सबसे बड़ा कारण, हमेशा से, जंग में लगे वे खौफनाक जख्म रहे है जो बुरी तरह संक्रमित हो जाते है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान फ्लेमिंग इस समस्या पर कार्य कर चुका था और देख चुका था कि इन संक्रमित जख्मो के इलाज के प्रचलित तरीके कितने बेकार थे। मट्टी तथा गन्दी वर्दियो पर उपस्थित रोगाणु, जख्म की गहराइयो तक धकेल दिए जाते है और इलाज की जगह तक पहुँचने मे जख्मी को जो वक्त लगता है उसके दौरान ये भयानक रोगाणु अपनी संख्यावृद्धि करते रहते है और सारे शरीर मे फैल जाते हैं और रुधिर-विषाक्तन की वह अवस्था पैदा कर देते है जो प्रायः सदा ही घातक होती है। पेनिसिलिन, ऐसे रोगियों को रोग-मुक्त करने की क्षमता प्रदर्शित कर चुकी थी और फ्लोरे अनुभव कर रहा था कि जैसे भी हो, उद्योगपतियो और सरकार को मना कर छोड़ना है कि इसे बडी तादाद में बनावें ताकि सशस्त्र सेनाओं में वितरित की जा सके।

अमरीका से रवाना होने से पहले फ्लोरे, अपने पुराने मित्र डाक्टर ए०एन० रिचर्ड्स से मिलने गया, वह पेन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालय के चिकित्सा-महाविद्यालय मे औषध-प्रभाव-विज्ञान का प्रोफेसर हुआ करता था और, हाल ही, प्रेजिडेंट रूजवेल्ट ने उसे अमरीकी सरकार की नई तथा शक्तिशाली चिकित्सा-अनुसंधान-समिति का प्रधान नियुक्त किया था। इस संस्था को यह सरकारी अधिकार प्राप्त था कि युद्ध-प्रयास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुसंधान तथा चिकित्सा-सामग्री के उत्पादन को तेज कर सके। फ्लोरे ने रिचर्ड्स को अपनी बात कह सुनाई और इसके तत्काल पूरा होने के महत्त्व से उसे प्रभावित कर दिया। अन्ततः, रिचर्ड्स ने अमरीकी सरकार की दिलचस्पी पेनिसिलिन के उत्पादन मे उत्पन्न कर ही दी और युद्धकालीन अधिकारों मे लैस सरकार ने इसके

उत्पादन के लिए उद्योग स्थापित कर दिया।

सन् १९४१ तथा १९४२ मे उत्पादन क्रमशः बढता गया और अत्यन्त सावधानी के साथ नियंत्रित डाक्टरी जांच का कार्यक्रम संगठित किया गया—अमरीका मे बोस्टन के डाक्टर चेस्टर कीफर के निर्देशन मे तथा इंग्लैंड मे सर हेनरी डेल की अध्यक्षता में एक समिति द्वारा। इससे पहले, संचारी पदार्थ एसिटिल्कोलीन के आविष्कार के लिए डेल को, डाक्टर आटो लीवी के साथ संयुक्त रूप से, नोवेल पुरस्कार प्राप्त हो चुका था।

जाच की इस अवधि के दौरान, पेनिसिलिन की बहुत मात्रा उपलब्ध नही थी। देश भर में से सावधानी के साथ चुने गए प्रत्येक रोगी की चिकित्सा का प्रक्रम, एक व्यापक योजना के अनुसार चलता था। इन सब रोगियों के बातफसील रिकार्ड रखे जाते थे और इस औषध के समुचित उपयोग के बारे मे बहुत कुछ सीखा जा सका। सन् १९४३ मे, जंगी जख्मियों की चिकित्सा के लिए पेनिसिलिन बड़ी मात्राओं में उपलब्ध होने लगी थी। इसकी कृपा से जितनी जानें बचाई जा सकी, वह सब चमत्कार से कुछ कम नही था।

जब फ्लेमिंग ने इसका आविष्कार किया और जब फ्लोरे, चेन, हीटले तथा अन्य कितने ही लोगो ने उपयोगी तथा जान बचाने वाली औषध के रूप में इसका निर्माण सम्भव किया तब के मुकाबले तो पेनिसिलिन अब सस्ती और रोजमर्रा की चीज बन गई है। अन्य फफूंदों तथा मट्टी में मिलने वाले जीवाणुओं मे कई और प्रतिजैविक भी पाए जा चुके है। हम यह भी जान चुके हैं कि रोगाणुओं में इन प्रतिजैविकों के विरुद्ध प्रतिरोध भी उत्पन्न हो जाता है; यह प्रतिरोध इतना भी बढ़ सकता है कि जीवाणु अपने प्रतिजैविक पर ही संवर्धित भी होने लगें, सो हम यह सीख चुके है कि हमे प्रकृति की इन चमत्कारी औषधियों को बिना विवेक के नही बरतना। इन्हे तभी बरतना जबकि इनकी आवश्यकता हो और जब हम यह जान लें कि रोगोत्पादक जीवाणु, इनके प्रयोग से मर जाता है। सब रोगाणु इनसे नही मरते।

भविष्य में चाहे कितने ही नए-नए प्रतिजैविक पदार्थ प्रकट हों, चिकित्सा के क्षेत्र मे पेनिसिलिन सदा एक विशेष पद पर प्रतिष्ठित रहेगी ; ठीक ऐसे ही जैसे कोई भी "प्रथम पदार्थ" रहा करता है; उसी तरह जिस तरह खेलकूद के क्षेत्र मे रोजर बेनिस्टर प्रतिष्ठित है चूंकि वह चार मिनट मे एक मील पूरा करके "असम्भव" को सम्भव कर दिखाने वाला प्रथम व्यक्ति था। फिर, चिकित्सा-अनुसंधान के इतिहास मे बहुत दूर तक नजर मारें तो भी हमें पेनिसिलिन की कथा से अच्छा कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा जो अनुसंधान में एक व्यक्ति और एक दल के स्थान के महत्त्व को दर्शाए। डाक्टर चेन ने लिखा था,

"पहले से बने हुए किसी विचार को विकसित करने के लिए एक दल के काम का बहुत महत्त्व है लेकिन मैं यह नही मानता कि किसी दल ने कभी कोई नया विचार पैदा किया है।"

९

बढ़िया सूझ भी बड़ी चीज है

जिस रोग को हम "मधुमेह" कहते है उसका ज्ञान मानव को यूनानी युग मे ही हो गया था।[1]

इस रोग मे शरीर, शर्करा का—ठीक-ठीक कहे तो ग्लूकोस का—समुचित उपयोग नही कर पाता। ग्लूकोस, रुधिर में जमा होता है, गुर्दों में से छलक जाता है और जाता-जाता जल की अपसामान्य मात्राओं को मूत्र में डाल देता है और तीव्र निर्जलीकरण पैदा कर देता है। जब ग्लूकोस का समुचित उपयोग नही होता तो वसाओं का भी नही हो सकता और वसाओं के अपूर्ण ज्वलन के उत्पाद, रुधिर में जमा होने लगते हैं। ये पदार्थ अम्ल होते है और मधुमेही को सकट में डाल देते है। रुधिर में ग्लूकोस के उच्च सान्द्रण, अपने आप, उसे हानि नही पहुँचाते।

---

१ सामान्य अंग्रेजी मे इसे "शुगर डायाबिटीज़" कहते हैं। यूनानी भाषा के डाया तथा बीटियो शब्दों से डायाबिटीज़ की व्युत्पत्ति है। अर्थ है, कीप मे से बहना। सकेत है मूत्र के उस विशाल परिमाण की तरफ जिसे इस रोग वाले उत्सर्जित करते हैं। रोग का पूरा पारिभाषिक नाम है, डायाबिटीज मेलिटस। मेलिटस मायने मधु: यहां प्रयोग इसलिए चूंकि इस रोग में मूत्र, शर्करा-बहुल होता है और किसी प्राचीन चिकित्सक को शहद जैसा प्रतीत हुआ था।

ज्यों-ज्यो समय बीतता गया, इस रोग के कारण के सम्बन्ध मे बहुत सी कल्पनाए होती रही; सबका सकेत सदा यही रहा कि इस रोग की जड़, अग्न्याशय (पैंक्रियस) मे है। मगर यह पता नहीं था कि मधुमेह में अग्न्याशय, ग्लूकोस के समुचित उपयोग के लिए आवश्यक कोई पदार्थ बनाने में असमर्थ रहता है या कोई ऐसा अपसामान्य पदार्थ बनाने लगता है जो ऊतको मे ग्लूकोस के सामान्य उपयोग को अवरुद्ध कर देता है।

इस बात का पक्का पता, सही मायनो में, तब तक नही लगा जब तक कि, १८८६ मे, जर्मनी के मेरिग तथा मिन्काव्स्की ने सिद्ध नही कर दिया कि कुत्तो का अग्न्याशय निकाल दें तो असली तथा पक्का मधुमेह उत्पन्न हो जाता है। जिसे हम "मीठे मांस" के नाम से खाते है वह बछड़ो का अग्न्याशय ही होता है। यह एक लम्बी-लम्बी, गुलाबी से रंग की, गोल सिर वाली तथा शुण्डाकार पूंछ वाली ग्रन्थि होती है जो रीढ़ की हड्डी के साथ और आमाशय के ठीक नीचे आड़ी पड़ी होती है। इसकी अधिकांश कोशिकाए उन पाचक रसो को स्रावित करती है जो क्षुद्रात्र मे जा पड़ते है।

जर्मनी के एक चिकित्सा-छात्र, पाल लैंगरहैंस ने १८६६ मे कोशिकाओ के ऐसे छोटे-छोटे "द्वीपो" का वर्णन किया था जो अग्न्याशय की इन पाचक कोशिकाओ के बीच बिखेरे पड़े होते है। इनका नाम ही लैंगरहैंस के द्वीप (या द्वीपिकाए) पड़ गया और अब यह माना जा चुका है कि ये कोशिकाए एक रासायनिक पदार्थ स्रावित करती है जो सीधा रुधिर-धारा में चला जाता है। इस पदार्थ के आविष्कारको ने इसका नाम रखा, इंसुलिन। रुधिर मे शर्करा की मात्रा को नियमित करने वाला यही "हार्मोन", मधुमेह मे अनुपस्थित होता है। आओ इसके आविष्कार की कहानी पर नजर डालें, और ज्ञान तथा कल्याण के उन मार्गो पर भी जो इसने मानव के लिए खोल दिए।

कुत्तो के अग्न्याशय निकाल कर तथा परीक्षणात्मक मधुमेह पैदा करके वान मेरिग तया मिन्काव्स्की ने जो मार्ग दिखाया था उस पर चल कर अनेक अनुसंधानकर्ताओ ने अग्न्याशय का सार निकाल कर उसमे से इस सक्रिय पदार्थ को प्राप्त करने का यत्न किया। लेकिन प्राणियो को इंजेक्शन लगाने पर, ये सार या तो रुधिर के शर्करा-स्तर को बिल्कुल प्रभावित नही कर सके या ऐसे विषैले साबित हुए कि उपयोग मे न आ सके। सन् १६०६ मे जर्मन चिकित्सक ज्यूलजर ने मधुमेह-रोगियो का, अग्न्याशय मे से निचोड़े हुए ऐसे रस से इलाज किया था जो एल्कोहल द्वारा निष्कर्षित किया गया था और फिर वाष्पीकरण द्वारा सुखा लिया गया था। जो चूर्ण बच रहा था उसे नमक के घोल मे विलीन कर लिया गया था। इन रोगियो को इसका इंजेक्शन

दिया गया तो शर्करा तथा वसाम्लों का मूत्र द्वारा उत्सर्जन बन्द हो गया था और रोगियों की हालत सुधरने लगी थी। लेकिन उन सबको ज़ोर का जाड़ा लगने लगा था, ज्वर हुआ था और थोड़ी बहुत उल्टियां भी हुई थीं जिससे सिद्ध होता था कि इस अग्न्याशय चूर्ण मे अपद्रव्य अभी विद्यमान थे। किसी कारण ज्यूल्ज़र ने अपना शोधकार्य जारी नहीं रखा और यह बहुत बुरा हुआ चूंकि वह इंसुलिन के उस आविष्कार के बहुत निकट पहुंच चुका था-जो तेरह साल बाद, केनेडा के टोरंटो नगर मे डाक्टर फ्रेडरिक बैंटिंग ने चार्ल्स बैस्ट के साथ मिल कर किया था।

डाक्टर बैंटिंग का जन्म, १४ नवम्बर, १८९१ को टोरंटो के पास एक फार्म (जमींदारी) पर हुआ था। वह भी एक किसान बन सकता था लेकिन परिस्थितियों का तकाज़ा था कि वह टोरंटो विश्वविद्यालय मे चिकित्सा का अध्ययन करे; वहां से १९१६ मे वह स्नातक बन कर निकला। प्रथम विश्व-युद्ध में नौकरी करने के बाद वह केनेडा लौट आया, हस्पताल में और प्रशिक्षण प्राप्त किया और ओंटेरियो प्रान्त के लंदन नगर मे डाक्टरी प्रैक्टिस शुरू कर दी।
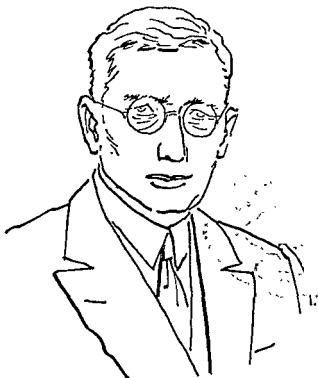
डा० बैंटिंग

प्रैक्टिस के उन प्रारम्भिक मासों में युवा डाक्टर बैंटिंग के पास बहुत कम काम आता था और उसने अनुभव किया कि उसके पास बहुत सा समय फालतू रहता है। अतः उसने निश्चय किया कि पश्चिमी ऑंटेरियो विश्व विद्यालय के चिकित्सा महाविद्यालय में कुछ काम खोजा जाय ताकि धन और मन दोनों का कुछ विकास होता रहे। शरीर-क्रिया-विज्ञान के प्रदर्शक (प्रशिक्षक) के तौर पर एक नौकरी पाने मे उसे सफलता मिल गई। उसका काम था, अध्यापन के काम आने वाली प्रयोगशालाओं मे सहायता करना तथा शरीर-क्रियाविज्ञान के पाठ्यक्रम के अनुसार चिकित्सा-विद्यार्थियों को कुछेक पाठ पढाना। इसी काम के दौरान बैंटिंग ने अध्ययनक्रम की एक योजना बनाई जिससे वह उस इम्तिहान की तैयारी कर सके जो उसे शल्यचिकित्सा के विशेषज्ञ की उपाधि दिला सकता था।

प्रोफेसर मिल्लर ने जो पाठ पढ़ाने के लिए बैंटिंग को दिए थे उनमें से अनेक इस बात पर थे कि शरीर, निशास्तों तथा शर्कराओं—या कार्बोहाइड्रेटों—से कैसे निबटता है। इन पाठो को पढाने की तैयारी करते-करते बैंटिंग, मधुमेह की समस्या मे गहरी दिलचस्पी लेने लगा और अनुभव करने लगा कि इसके कारण तथा चिकित्सा के बारे मे कितना कम ज्ञात था। तीव्र मधुमेह के रोगियों का तो कोई इलाज था ही नही और उनकी हालत बिगड़ती जाती थी और वे मर जाते थे, ठीक ऐसे ही जैसे कि पेनिसिलिन के आविष्कार से पहले रुधिर-विपाक्तन के रोगी। जब वह बालक था तब उसने एक स्नेहमयी चाची पर यह सब घटते देखा था और उसे कभी नही भूलता था।

इन्ही दिनों के एक सायकाल मे वह, एक शल्यतंत्र-पत्रिका मे प्रकाशित, मिनेसोटा विश्वविद्यालय के डाक्टर मोसेज बैरन का एक लेख पढ रहा था। अग्न्याशय की वाहिनी की पथरियो वाले कतिपय रोगियो मे उसने जो कुछ देखा था, इस लेख मे उसका विवरण था।' यह वाहिनी वह नली होती है जो अग्न्याशय से क्षुद्रांत्र तक जाती है। उसने देखा था कि जब कोई पथरी इस वाहिनी को अवरुद्ध कर देती है तो अग्न्याशय की कोशिकाएं अपभ्रष्ट होने लगती हैं और सारा अंग सिकुड़ जाता है। इस प्रक्रम मे लगभग आठ सप्ताह लगते हैं। बैंटिंग को डाक्टर बैरन का यह प्रेक्षण सबसे महत्त्व का लगा कि ये रोगी मधुमेही नही बन जाते, बनते भी है तो बहुत देर मे जब कि अग्न्याशय की अधिकाश पाचक कोशिकाएं पहले ही अपभ्रष्ट हो चुकी होती हैं। बैरन ने इन लोगों के अग्न्याशयों को सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखा तो पाया कि हालांकि पाचक रस स्रावित करने वाली कोशिकाएं गायब हो चुकी थी, लैंगरहैंस की द्वीपिकाओं की कोशिकाएं अभी तक बिलकुल सामान्य प्रतीत होती थी। जब उसने

कुत्तों के अग्न्याशयों की वाहिनियों को बाँध दिया तब भी उसने यही बात देखी—द्वीपिकाओं की ये कोशिकाएं अन्त में अपभ्रष्ट होती थी और जब तक यह नही होता था तब तक मधुमेह प्रकट नहीं होता था। इन प्रेक्षणों के आधार पर बैरन ने सुझाव दिया कि लैंगरहैंस की द्वीपिकाओं की कोशिकाएं ही वह पदार्थ स्रावित करती है जो रुधिर-शर्करा को नियमित करता है और जब वे इसका स्रावण बन्द कर देती है तो मधुमेह हो जाता है।

इस लेख को पढते-पढते बैंटिंग बहुत रोमांचित हो उठा क्योंकि उसे सहसा एक शानदार बात सूझ गई थी। उसे ऐसा लगा कि अग्न्याशय का सत्व बनाने सम्बन्धी पहले के प्रयत्न इसलिए असफल रहे थे क्योंकि निष्कर्षण के प्रक्रम, अग्न्याशय की कोशिकाओ के पाचक रसों को मुक्त कर देते रहे हैं और इससे पहले कि द्वीपिका-कोशिकाओ का पदार्थ पृथक् किया जा सके, ये रस उसे पचा डालते रहे हैं। अगर ऐसा ही है तो, स्वभावत:, ऐसे सत्व बिलकुल बेकार ही रहेगे और रुधिर-शर्करा को घटाने वाला कोई प्रभाव पैदा नही करेंगे। उसे ऐसा लगा कि आवश्यकता इस बात की है कि पहले द्वीपिका-कोशिकाओं को हानि पहुँचाए बिना, पाचक रसो को स्रावित करने वाली कोशिकाओं से छुटकारा पा लिया जाय; फिर शुद्ध द्वीपिका-कोशिकाओं में से रुधिर-शर्करा सम्बन्धी सक्रिय पदार्थ को निष्कर्षित किया जा सकेगा। बैंटिंग को ऐसा लगा कि अगर बैरन के विचार ठीक है तो उसका प्रेक्षण चाबी का काम देगा, दरवाजे का ताला खोल देगा और अग्न्याशय मे से रुधिर-शर्करा सम्बन्धी जादुई पदार्थ के सफल पृथक्करण तक पहुंचा देगा।

बैंटिंग की नीद हराम हो गई। इस अगले चरण तक बैरन अपने आप क्यो नही पहुँचा था, जब उसने कुत्ते के अग्न्याशय की वाहिनी को बांधा था उसके बाद, मगर कुत्ते के मधुमेही हो जाने से पहले, उसने कुत्ते के अपभ्रष्ट अग्न्याशय का सत्व क्यो नही निकाला था? उस अग्न्याशय में अब भी द्वीपिका-कोशिकाएं बहुत अधिक होती और पाचक कोशिकाएं बहुत कम। शायद बैरन को सूझा नही था कि उसका अनुसंधान इस तरफ बढ सकता था। बैंटिंग ने खुद ऐसा करने का फैसला किया और इस भय से कि कहीं यह विचार उसके मन से उतर न जाय, वह उसी समय, रात्रि के उत्तरार्ध में, बिस्तर से निकला और अपनी नोट बुक मे यह बयान दर्ज कर दिया, "कुत्तो के अग्न्याशयो की वाहिनियो को बाधो। छह से आठ हफ्तों तक प्रतीक्षा करो ताकि अग्न्याशय अपभ्रष्ट हो जायं। उनके अवशेष को लेकर सत्व निकालो।"

अगले दिन बैंटिंग, प्रोफेसर मिल्लर तथा क्रियाविज्ञान-विभाग के सदस्यो से मिलने गया। उसने उन्हें अपना विचार बताया और उस

सम्मति मागी। सबने उसके विचार को सराहा। बैंटिंग ने बताया कि वह इसे क्रियान्वित करना चाहता है और डाक्टर मिल्लर से पूछा कि क्या उसके लिए दस कुत्तो का, दस हफ्ते काम करने के लिए स्थान का और एक सहायक का प्रबन्ध हो सकता है। डाक्टर मिल्लर ने उत्तर दिया कि वह इन सुविधाओ की व्यवस्था नही कर सकेगा और कि न तो उसको स्वयं और न विभाग के दूसरे सदस्यो को कार्बोहाइड्रेटों का इतना ज्ञान है कि बैंटिंग की बहुत सहायता कर सकें। उसने सुझाव दिया कि इस काम के लिए बैंटिंग को टोरंटो जाना चाहिए।

स्काट्लैंड का प्रतिष्ठित नागरिक डाक्टर जे० जे० आर० मेक्लोड, वहां शरीर-क्रियाविज्ञान का प्रोफेसर था। वह कार्बोहाइड्रेटो के बारे मे प्रामाणिक माना जाता था और मिल्लर का विचार था कि वह कही अधिक सहायक हो सकेगा। इस पर, बैंटिंग अपनी पुरानी फोर्ड-मोटर में सवार हो गया और परिचित रास्ते तय करके अपने पुराने चिकित्सा-महाविद्यालय जा पहुचा और मेक्लोड से भेंट का समय निश्चित कर लिया। यह बात है, नवम्बर, १९२० की।

बैंटिंग ने लिखा है कि यह मुलाकात बहुत खराब रही। उसे ऐसा लगा कि वह मेक्लोड के सामने अपना ख्याल बखूबी पेश नही कर सका है। जो हो, मेक्लोड ने कहा था कि जब अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति अग्न्याशय से रुधिर-शर्करा तत्त्व को निकालने का प्रयत्न कर चुके हैं और असफल हो चुके हैं तो बैंटिंग जैसा अनुभवहीन शल्यचिकित्सक इन परीक्षणो से क्या कर दिखाने की आशा रखता है? मेक्लोड ने इन्कार कर दिया, बहुत निरुत्साहित किया और अपने मिशन मे असफल होकर बैंटिंग लंदन लौट आया। लेकिन वह इस विचार को दिमाग से न निकाल सका। वह जितना ही इस पर विचार करता उतना ही वह इसे आजमाना चाहता और उसने टोरंटो के दो चक्कर और लगाए। दूसरी बार भी मेक्लोड ने उसे निरुत्साहित ही किया लेकिन तीसरी बार उसने बैंटिंग को एक मौका देना मान लिया।

बैंटिंग चाहता था कि दस कुत्तो के अग्न्याशय तत्काल निकाल दे ताकि उसके लंदन लौट जाने तथा मई मे लौटकर टोरंटो आने के बीच की अवधि मे पाचक कोशिकाओ का अपह्रसन (क्षय) चलता रहे। लेकिन मेक्लोड ने प्रेरणा की कि जब तक वह लौटकर नही आ जाता तब तक प्रतीक्षा करे ताकि वह उपस्थित रह कर, शल्यक्रियाधीन कुत्तो की निगरानी खुद कर सके।

जब मेक्लोड ने उसको दस कुत्ते दे दिए और आठ हफ्तो के लिए एक प्रयोगशाला उसके हवाले कर दी तब, मई १९२१ में, टोरंटो मे बैंटिंग ने काम

शुरू किया। मेक्लोड ने सोचा कि उसे प्रयोगशाला के कार्य मे किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता मिलती रहनी चाहिए जो कार्बोहाइड्रेटों के बारे मे जानता हो और जानता हो कि शरीर उनसे कैसे निबटता है। सी० एच० बेस्ट तथा ई० सी० नोबल, द्वितीय वर्ष के दो अच्छे विद्यार्थी थे जो उस प्रयोगशाला मे काम करते रहे थे; मेक्लोड ने उनके जिम्मे लगाया कि जो आठ हफ्ते बैंटिंग ने वहा गुजारने है उनमे वे उसकी सहायता करते रहे। पहले चार हफ्ते बेस्ट तथा पिछले चार हफ्ते नोबल। लेकिन हुआ यह कि अपनी बारी से पहले ही नोबल कालेज से चला गया और बेस्ट ही शुरू से आखिर तक उसकी इमदाद करता रहा।

उनका काम व्यवस्थित हुए थोड़े ही दिन हुए थे कि मेक्लोड गर्मियां बिताने स्कॉट्लैंड चला गया। कुत्तो के निवास के लिए एक स्थान तथा एक आपरेशन-कक्ष, बैंटिंग तथा बेस्ट के हवाले किया जा चुका था और एक प्रयोगशाला भी जहां वे सत्व तैयार कर सकते थे तथा रुधिर तथा मूत्र के नमूनो मे उपस्थित शर्करा की पैमाइशें कर सकते थे। कई कुत्तो के आपरेशन किए गए तथा क्षुद्रांत्र की ओर जाने वाली अग्न्याशय वाहिनियों पर बन्ध लगा दिए गए। आपरेशन के बाद ये कुत्ते भले चगे हो गए। जिस अर्से मे बैंटिंग तथा बेस्ट ने इनके अग्न्याशयों मे ह्रास के होने की प्रतीक्षा करनी थी उसमे वे अग्न्याशय को निकालने के नाजुक आपरेशन का अभ्यास दूसरे सामान्य कुत्तों पर करते रहे। इन कुत्तो मे से कुछेक ने बाद में मधुमेही हो जाना था और वाहिनी-बन्ध
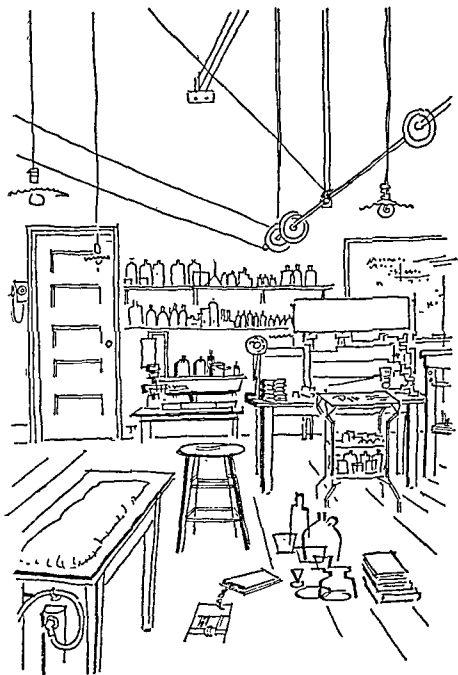
टोरंटो विश्वविद्यालय की स्तनधारी प्रयोगशाला

वाले प्राणियो से प्राप्त होने वाले सत्वों के लिए परीक्षण-प्राणियो का काम देना था।

सात हफ्ते गुजरे होगे कि वाहिनी-बन्ध वाले कुत्तो मे से दो को क्लोरोफार्म सुंघा कर बेहोश किया गया लेकिन बैंटिंग तथा बेस्ट यह देख कर निराश हुए कि इन कुत्तो के अग्न्याशय अभी पूरी तरह ह्रसित नही हुए थे। उन्हें जल्दी ही पता लग गया कि अगर वाहिनी पर दो बन्ध लगाए जाएं तो, जैसा कि बैरन देख चुका था, ह्रास हो जाता है। अत. उन्होंने अपने सब कुत्तों के दोबारा आपरेशन किए और प्रत्येक में एक-एक बंध और लगाया।

जुलाई की २७ तारीख को उन्होने एक ऐसा कुत्ता लिया जिसका अग्न्याशय निकाला जा चुका था और जो, अतएव, मधुमेही हो चुका था। उन्होने निश्चय किया कि इस पर ह्रसित अग्न्याशय के सत्व की परीक्षा की जाय। ऐसा अग्न्याशय उन्होंने वाहिनी-बंध वाले एक कुत्ते से निकाला, उसे पीस लिया और लगभग सौ घन सेन्टीमीटर लवण-घोल मे मिला दिया। रुधिर के नमूने, एक शिरा में से, हर आधे घंटे बाद, दो घंटो तक लिए गए और उनका, ग्लूकोस-अंश के निर्धारण के लिए विश्लेषण किया गया। यह देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा कि रुधिर-शर्करा, दो घंटो में, ०·२०० से गिर कर ०·११० प्रतिशत पर आ गई और कुत्ते की अवस्था मे सुधार नजर आने लगा। इस प्रकार बैंटिंग तथा बेस्ट ने सफलता का मुंह देखा। उन्होंने इस बात में शक की गुंजायश नहीं रहने दी कि अग्न्याशय मे रुधिर-शर्करा को घटाने की शक्ति प्रदर्शित की जा सकती है बशर्ते कि इसे उन पाचक रसों को पैदा करने वाली कोशिकाओं से मुक्त कर लिया जाय जो पहले के परीक्षणों मे इस सक्रिय पदार्थ को नष्ट करती रही है।

ये प्रतिभाशाली युवक अपने परीक्षण को इतनी बार दोहरा सके कि इसकी सच्चाई के वे कायल हो गए। जिस अग्न्याशय को कई घंटे लगातार स्रावित करने पर बाधित करके पाचक एंजाइमों से रिक्त कर दिया गया था उसके सत्वों में भी इस सक्रिय पदार्थ की उपस्थिति को उन्होने सिद्ध कर दिया। जिन गौओं का वध होने वाला होता था उनके पेट को काट कर निकाले गए बछड़ो के अग्न्याशयों में तो यह पदार्थ उन्हें बहुत ही क्रियाशील रूप में मिला।

चूंकि यह नया हार्मोन लैंगरहैंस के आइलेट्स (द्वीपिकाओं) से मिला था अतः बैंटिंग तथा बेस्ट ने इसका नाम इंसुलिन रख दिया। लैटिन भाषा मे द्वीप को इन्सुला कहते है।

अगस्त का अन्त होते-होते, मेक्लोड स्कॉट्लैंड से लौट आया और इन

सफल परीक्षणकर्ताओ ने उसका अभिवादन किया। आठ हफ्तों की छोटी सी अवधि मे इन्होने उस काम मे शानदार सफलता प्राप्त कर ली थी जिसे वे करने निकले थे और उनके चिन्तन के मुताबिक आविष्कार पूरा हो चुका था। अब इतना ही काम रहता था कि इसुलिन के लिए कुत्तो के अग्न्याशय से अच्छा स्रोत तलाश किया जाय और इसुलिन को इतना शुद्ध किया जाय कि इसकी जाच मधुमेही मनुष्यो पर की जा सके।

लेकिन मेक्लोड ने बैंटिंग तथा बेस्ट के साक्ष्य को ही पर्याप्त नही समझा और परीक्षणो को स्वय देखना चाहा। इसलिए, और कुत्ते तैयार किए गए और परीक्षण को ठीक पहले की तरह, दोहराया गया। परिणाम वैसे ही निकले और मेक्लोड को उन दोनों व्यक्तियो के आविष्कार को सत्य मानना पडा। जिस प्रकार उसने बैंटिंग को निरुत्साहित किया था अगर बैंटिंग उसी प्रकार निरुत्साहित हो जाता तो क्या वह यह सब कभी कर पाता?

मेक्लोड, पुरानी जर्मन मान्यताओ वाला प्रोफेसर था; वह प्रयोगशाला का अध्यक्ष था और शेष सब—विशेषत बैंटिंग तथा बेस्ट जैसे दोनों अनुभवहीन युवक—सहायक मात्र थे। इसलिए उसका आग्रह था कि चूंकि इसुलिन का आविष्कार उसकी प्रयोगशाला मे हुआ है अत: वही उसकी सार्वजनिक घोषणा करने का अधिकारी है। इससे बैंटिंग तथा बेस्ट को कुछ दु:ख भी हुआ, वास्तविक क्रोध भी। फिर भी, न्यूजर्सी के एटलांटिक सिटी मे, मई १९२२ मे होने वाली अमरीकी-चिकित्सा-सघ की बैठक मे यह घोषणा एक निबन्ध के रूप मे हुई। निबन्ध का शीर्षक था, "अग्न्याशय के सत्वो द्वारा मधुमेह पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव।" निबन्ध को पढ़ा मेक्लोड ने। हालांकि लेखको की सूची के अनेक नामों मे बैंटिंग तथा बेस्ट का जिक्र था, उन्हें बैठक मे निमन्त्रित तक नही किया गया था क्योकि वे उस सघ के सदस्य नही थे।

कहानी का यह विचित्र पहलू कायम रहा क्योकि जब १९२३ मे नोबेल पुरस्कार दिया गया तो यह बैंटिंग तथा मेक्लोड को मिला। बेस्ट को नही मिला हालांकि इंसुलिन के आविष्कारक सदा ही बैंटिंग तथा बेस्ट माने जाते हैं। हो सकता है हमे सब परिस्थितियो का ज्ञान न हो लेकिन ऐसा अनुभव होता है कि बेस्ट का नाम अवश्य शामिल होना चाहिए था।

पेनिसिलिन के मामले की तरह अब यहा भी अनुसधान की माग थी कि अग्न्याशय सत्वो मे से शुद्ध इसुलिन पृथक् की जाये, इसकी जाँच मधुमेह के मानव रोगियों पर की जाये और उद्योगशालाएं इसका बड़े पैमानो पर निर्माण करें।

बाद मे पता लगा कि अग्न्याशय-वाहिनी को पहले बांधे बिना भी गौ के

अग्न्याशय मे से इसुलिन निकाली और प्रशत: शुद्ध भी की जा सकती है। सन् १९२२ की ११ जनवरी को पहली बार टोरंटो जनरल हास्पिटल में मधुमेही मनुष्यों का इलाज इन सत्वों से किया गया था। रुधिर-शर्करा उसी प्रकार कम हो गई थी जिस प्रकार कुत्तों मे हुई थी लेकिन अभी इन सत्वो मे अपद्रव्य उपस्थित थे अत: इन रोगियो को कुछ ज्वर हो गया था और इजेक्शन के स्थान पर बहुत दुखन पैदा हो गई थी।

अगले वर्षो मे इसुलिन के शोधन का काम तेजी से हुआ। टोरंटो के डाक्टर जे० पी० कौलिप ने बहुत शुद्धतर रूप बना लिया। उसके बाद का काम बेस्ट के निर्देशन मे चलता रहा और १९२२ की ग्रीष्म ऋतु मे उसने शोधित इंसुलिन की इतनी काफी मात्रा बना ली कि मधुमेह के रोगियो की चिकित्सा मे इसके महत्त्व को वह सिद्ध कर सके और शक की कोई गुजाइश न रहे। बाद मे इसके उत्पादन का काम, इडियानापोलिस की एलि लिल्ली कम्पनी ने सम्हाल लिया, जितनी इंसुलिन अमरीका मे बनती है, उसका अधिकांश अब भी यही कम्पनी बनाती है। आखिरकार, १९२८ में, हैरीमेन तथा स्कॉट ने इंसुलिन का स्फटिक रूप बना लिया और पता लगा कि यह किसी कदर छोटा-सा प्रोटीन-अणु होता है जिसमे जस्त होता है। इसकी रासायनिक सरचना तीस साल तक रहस्य ही बनी रही और तब कही, इंग्लैंड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के फ्रेड्रिक सैंगर ने इसका निर्धारण किया। इस कार्य के लिए उसे १९५८ का रसायन-विज्ञान सम्बन्धी नोबेल पुरस्कार मिला था। अब जब कि हमे इसकी रासायनिक सरचना ज्ञात हो गई है, इस बात के लिए रास्ता साफ हो गया है कि हम इंसुलिन बनाने की विधि आविष्कृत कर सकें और वह दिन शीघ्र ही आ जायगा जब हमे इसुलिन के स्रोत के तौर पर बूचडखानो से मिलने वाले अग्न्याशयो पर निर्भर नहीं रहना होगा बल्कि इसे कारखाने में ही बना लिया करेंगे।

इंसुलिन, शरीर मे उपस्थित उन रसायनो के वर्ग का है जिन्हे हार्मोन कहते हैं। ये पदार्थ पिट्इटरी (पीयूष), थाइरायड (गलग्रंथि), पैराथायरायड (उपगलग्रन्थि), एड्रिनल (अधिवृक्क) तथा जनन आदि ग्रन्थियों द्वारा स्रावित होते है और रुधिर द्वारा शरीर के दूसरे भागों तक पहुँचाए जाते है और कुछ विशिष्ट जैव प्रक्रमों की रफ्तार को बदलते रहते है। प्रत्यक्षत. इसुलिन, उन रासायनिक क्रियाओं के दर को नही बदलता जो कोशिका में ग्लूकोस का उपयोग करती हैं, यह तो कतिपय प्रकार की—विशेषत: ककालपेशी तथा हृदय की—कोशिकाओं मे ग्लूकोस के प्रवेश की दर को तेज करता है। यह इस काम को कैसे करता है, हम नही जानते। लेकिन यह ऐसा करता है, इसी बात से

मधुमेह को समझने का एक और क्षेत्र खुल गया है और इसका अभिप्राय है कि १९२१ मे बैंटिंग तथा बेस्ट द्वारा किए गए आविष्कार के बाद हमने बहुत सी मंजिल तय कर ली है। बैंटिंग की बढिया सूझ ने अनुसंधान का एक ऐसा भरापूरा क्षेत्र चालू कर दिया जो मानव को बडे-बड़े लाभ पहुंचाता हुआ तब तक चालू रहेगा जब तक हम यह नही जान पाएगे कि इंसुलिन तथा दूसरे हार्मोन किस तरह काम करते है।

१०

बढ़िया तरीकों का भी बड़ा महत्त्व है

अनुसंधान के किसी अच्छे कार्यक्रम के लिए आवश्यक है प्रेक्षण तथा पैमाइश के ऐसे तरीके बरते जाएं जो परिशुद्ध भी हो, विशिष्ट भी। कभी-कभी रद्दी तरीको की वजह से सारा का सारा अनुसंधान बिलकुल बेकार हो जाता है। कभी-कभी कोई ऐसी विधि आविष्कृत हो जाती है कि जो पैमाइशें पहले असम्भव थी या इतनी कठिन थी कि उन्हें क्रियान्वित नही किया जा सकता था, सहसा सम्भव हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिन तरीको को किसी खास मसले के हल के लिए डिजाइन किया गया था, अनुसंधान के दूसरे कई क्षेत्रों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होने लगते है। इस प्रकार एक नए तरीके का आविष्कार, विज्ञान में वास्तविक क्रान्ति ला सकता है। इसका एक अच्छा उदाहरण उस सरल सी प्रविधि का आविष्कार है जो रासायनिक विश्लेषण के काम आती है और क्रोमेटोग्राफी (वर्णलेखन) कहलाती है।

इस अंग्रेजी शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी भाषा के दो शब्दों से हुई है। क्रोमा मायने रंग तथा ग्राफीन मायने लिखना या आरेखित करना। स्पष्ट है कि इस प्रविधि में रंगीन चीजों के आरेखन जैसी कोई बात होनी चा[illegible] वस्तु त क्रोमेटोग्राफी या वर्णलेखन से उन एक जैसी विधियों के स[illegible]
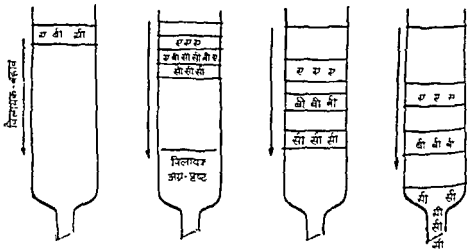
उल्लेख होता है जो गैसों या रसायनों को, द्रवों मे घुले हुए मिश्रणों से पृथक् करने मे काम आती है। इस प्रविधि का उपयोग सबसे पहले १९०३ में रूसी वनस्पतिज्ञ एम० एस० स्वेट ने पत्तों से निःसारित वर्णकों के रंगीन मिश्रणों के पृथक्करण के लिए किया था, तभी से यह नाम भी चला आता है।

स्वेट ने कांच की एक नली को पिसी हुई खड़िया (चॉक) के चूर्ण से भर दिया था और हरे पत्तों के वर्णक मे से पेट्रोलियम-ईथर द्वारा निःसारित सत्व को उसमें डाल दिया था। ज्यों-ज्यो वह रंगीन सत्व सिम-सिम कर खड़िया के स्तम्भ मे नीचे की ओर चलता गया, वर्णकों का मिश्रण, स्तम्भ के भिन्न-भिन्न स्तरों पर अकेले अकेले रग की पट्टियो मे फटता गया था। इस प्रकार, स्वेट को मिश्रण के इन पृथक् पृथक् वर्णकों का एक रंगीन आरेख—क्रोमेटोग्राम (वर्णलेख)···प्राप्त हो गया था। उसने खड़िया के स्तम्भ को नली से बाहर निकाल लिया था और जैसे डबल-रोटी के खण्ड बनाए जाते है उसी तरह चाकू से प्रत्येक रंगीन खण्ड को काट-काट कर पृथक्-पृथक् कर लिया था। फिर उसने खड़िया के इन पृथक्कृत खण्डों को भिगो कर प्रत्येक में से वर्णक को पृथक् कर लिया था और उनके आवश्यक रासायनिक विश्लेषण करके ठीक-ठीक बता दिया था कि प्रत्येक वर्णक क्या चीज था। मूलतः यह पद रंगीन समासो के प्रसग मे ही प्रयुक्त होता था, हालांकि वर्णलेखन की प्रविधि का उपयोग अब वर्णहीन मिश्रणो के लिए भी व्यापाक रूप से होने लगा है फिर भी शब्द का मूल रूप चलता ही जा रहा है।

अर्से से रसायनज्ञ लोग किसी मिश्रण के घटकों को पृथक् करने के लिए उस परिमाण का लाभ उठाते रहे है जिसमे ये घटक भिन्न-भिन्न द्रव-

विलायकों में घुलते हैं। उदाहरण के लिए, किसी मिश्रण का घटक जल में और दूसरा ईथर में अधिक आसानी से घुल जाता है। अतः, इन दोनों पदार्थों के जलीय घोल को ईथर में मिला कर हिलाया जाय तो दूसरा पदार्थ ईथर में चला जायगा जब कि पहला जल में बना रहेगा। चूंकि जल तथा ईथर मिश्रित नहीं हो सकते, उन्हें दो ऐसी तहों के रूप में पृथक् किया जा सकता है जिनमें से प्रत्येक के साथ, घुले हुए दो पदार्थों में से एक आ जायगा।

भिन्नात्मक संख्याएं
(प्रत्येक नली में समान मात्रा)
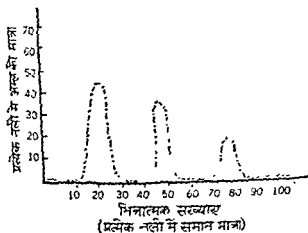
वर्णलेखन का एक रूप, इसी तथ्य पर आधारित है और डाक्टर ए० जे० पी० मार्टिन तथा डाक्टर आर० एल० एम० सिंज नाम के दो अंग्रेजों को, इसके आविष्कार के लिए १९५२ में, रसायनविज्ञान सम्बन्धी नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था। वर्णलेखन की इस विधि में दो द्रव, कुटे हुए कागज जैसे किसी ठोस पदार्थ से बंधित हो जाते हैं। कागज के पतले चूरे को प्रथम द्रव में भिगो कर कांच नली में भर दिया जाता है और जिन पदार्थों को पृथक् करना है उनके मिश्रण को इस काचनली में, ऊपर से डाल दिया जाता है। यह तो वैसा ही है जैसा कि स्वेट ने अपने खड़िया-स्तम्भ से किया था। पृथक्करणीय पदार्थों का मिश्रण अब सिम-सिम कर स्तम्भ के नीचे की ओर चलने लगता है। कुछेक घटक तो पृथक् होकर कागज के चूर्ण से बंधित द्रव में घुलते जाते है और कुछ, अब डाले जा रहे द्रव के साथ ही स्तम्भ के नीचे की ओर सिमते जाते है। इस प्रकार, घटक पृथक् हो जाते है। काच के स्तम्भ की तली में निकलने वाले द्रव के पृथक्-पृथक् नमूनों को जमा करके ... को एक दूसरे से पृथक् रूप मे प्राप्त कर लिया जाता है।

इस प्रकार के वर्णलेखन जैसा ही एक तरीका ... गोर्डन तथा मार्टिन ने यह सिद्ध करके आविष्कृत ...

विलायक मे डूबा निचला सिरा
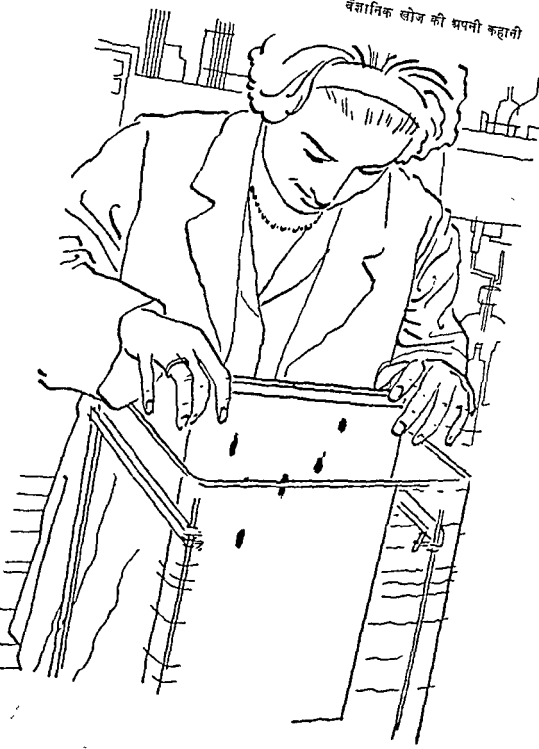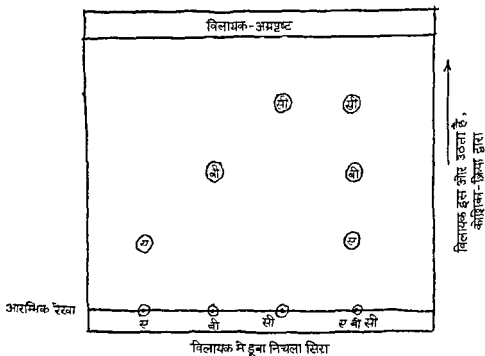
ठसे हुए स्तम्भ के बजाय, ठोस पदार्थ के तौर पर सामान्य निस्यन्दक (फिल्टर) पत्र का उपयोग किया जा सकता है। इस कागज के निचले सिरे से जरा-सा ऊपर एक आड़ी लकीर खीची जाती है और जिस मिश्रण का पृथक्करण करना है उसे एक धब्बे के रूप मे इस रेखा पर लगा दिया जाता है। इस धब्बे को सूखने दिया जाता है और इस कागज को एक बन्द मर्तबान मे इस प्रकार टाँग दिया जाता है कि इसका नीचे का सिरा एक खास, छाँटे हुए द्रव से युक्त चिलमची-सी मे डूबा रहे। अब यह द्रव, केशिकाक्रिया द्वारा, उस कागज पर ऐसे ही उठता जाता है जैसे काफी, खांड के डले पर उठती जाती है और उस धब्बे के पदार्थों को घसीट कर साथ लेती जाती है। अब यह कागज इन पदार्थों को भिन्न-भिन्न ऊंचाइयो पर रोकता जाता है। परिणामतः वे अकेले-अकेले धब्बो के रूप मे कागज पर ऐसे पृथक् हो जाते हैं कि उन्हे कई भिन्न-भिन्न तरीको से देखा और व्यक्त किया जा सकता है।

इसी काम को ठीक उलटा कर भी किया जा सकता है। किसी बन्द मर्तबान की चोटी मे उस द्रव से भरी द्रोणिका मे लगी कांच की छड़ पर निस्यन्दनपत्र का एक सिरा टाग दो। ऐसा करने से द्रव केशिकाक्रिया द्वारा, कागज में चढ़ने लगता है और मिश्रण के धब्बो मे से होकर, लटकते हुए कागज के वक्र

ऊपर से होकर नीचे की ओर चलता जाता है । यह द्रव चलता-चलता कागज के निचले सिरे से मर्तबान की तली पर टपकने लगता है । इस प्रकार एक साइफन (पनचोर) की सी व्यवस्था बन जाती है जिसके कारण द्रव कागज के निचले सिरे की ओर लगातार चलता रहता है और उस धब्बे के मिश्रण के घटक पदार्थ कागज के नीचे की ओर भिन्न-भिन्न निचाइयों तक चलते जाते हैं और पृथक् हो जाते है । इसे अवरोही पत्र-वर्णलेखन कहते हैं ।
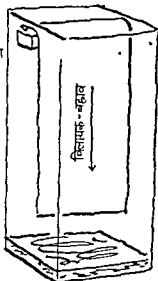
पत्र-वर्णलेख को, दो भिन्न-भिन्न गतिशील विलायकों का प्रयोग करके दो दिशाओं मे भी चलाया जा सकता है और मिश्रण के ऐसे अनेक पदार्थों को पृथक् किया जा सकता है जो वर्णलेख के एक ही दिशा मे चलने से पृथक् नही हो सकते । जिन इक्कीस, पृथक्-पृथक् एमिनोअम्ल रूपी ईंटों से हमारे शरीर के ऊतकों की प्रोटीनें बनती है उनकी उपस्थिति दर्शाने में यह प्रविधि बहुत उपयोगी रही है । इस तरह के वर्णलेखन में एमिनोअम्लों से युक्त द्रव का दाग, निस्यंदन पत्र के एक बड़े वर्गाकृति टुकड़े के एक कोने मे लगा दिया जाता है और सूखने दिया जाता है । फिर, इस पत्र के निचले किनारे को प्रथम द्रव मे डुबोया जाता है और उसे, केशिकाक्रिया द्वारा, लगभग कागज के ऊपरले सिरे तक चढने दिया जाता है । इसके बाद, इस कागज को निकाल कर सुखा लिया जाता है और फिर मर्तबान में रख दिया जाता है । फर्क इतना होता है कि इस बार कागज के दूसरे किनारे को मर्तबान की तली मे पड़े दूसरे द्रव मे डुबो दिया जाता है । अब यह भी, केशिकाक्रिया द्वारा, पहले की दिशा के साथ

बढ़िया तरीकों का भी बड़ा महत्त्व है

समकोण बनाता हुआ कागज पर उठने लगता है और कागज पर हुई प्रथम द्रव की गति के मुकाबले, इन अनेक एमिनोअम्लों को और भी स्पष्ट रूप से पृथक् कर देता है।

पत्र-वर्णलेखन की इन दोनों विधियों में, मिश्रण से पृथक् हुए पदार्थों की पहचान, कागज के सूख जाने के बाद, अनेक विधियों से की जाती है। उदाहरण के लिए, अगर मिश्रण के घटक अम्ल या क्षार हैं तो सुखाए हुए कागज पर फिनोल-लाल या ब्रोमक्रिसोल-हरित जैसे किसी रंजक को छिड़का जाता है। इसमे अम्ल, किसी रगविशेष के धब्बे के रूप मे किसी और रग के पृष्ठाधार पर उभर आयगा। जिस कागज पर फ़िनोल-लाल छिड़का जायगा उस पर के अम्लीय धब्बे, लाल पृष्ठाधार पर गूढ़े पीले दीखेंगे। द्विदिशिक वर्णलेख पर प्रोटीन से पृथक् किए हुए एमिनोअम्लों को निन्हाइड्रिन नाम के रसायन के साथ गर्म किया जाता है तो वे नीला या जामनी सा रंग पकड जाते हैं। इसलिए, एमिनोअम्लों के लिए बनाए गए इन पत्र-वर्णलेखो पर निन्हाइड्रिन छिड़क दिया जाता है और इन्हें एक आवे (भट्ठी) में रख दिया जाता है। थोड़ी ही देर मे एमिनोअम्लो तथा निन्हाइड्रिन मे रासायनिक क्रिया हो जाती है और एमिनोअम्लो का जो 'नक्शा'' बनता है उससे श्वेत पृष्ठाधार पर बने नीले-जामनी धब्बे पृथक्-पृथक् स्पष्ट दीख रहे होते हैं।

कुछ पदार्थ ऐसे होते है कि परावैंगनी प्रकाश के पड़ते ही प्रतिदीप्त हो जाते हैं। कतिपय विटामिन इसके उदाहरण हैं। इन विटामिनों के पत्र-वर्णलेख को सुखा कर अंधेरे कमरे में ले जायं और परावैंगनी लैम्प के नीचे रख दें तो ये धब्बे सीधी सादी नीली, पीली या हरी सी प्रतिदीप्ति देने लगते है।

पत्र-वर्णलेख के वर्णहीन धब्बों को पहचानने के लिए कभी-कभी हम रेडियो-एक्टिवता का उपयोग भी करते हैं। रेडियो-एक्टिवता को पैमाइश करने वाले गाइगेर-गणित्र द्वारा पत्र को बारीक जांच की जाती है। जिस अदृश्य धब्बे मे कोई रेडियोएक्टिव पदार्थ होगा उस पर से गुजरता हुआ गाइगेर-गणित्र जल्दी-जल्दी टिक् टिक् टिक्......टिक् टिक् टिक्......करने लगेगा।

ऐसे रेडियोएक्टिव धब्बों को पहचानने का एक और तरीका यह है कि पत्र-वर्णलेख के ऊपर फोटोग्राफी की एक फिल्म रख दी जाय, रेडियोएक्टिवता को इतना समय दिया जाय कि फिल्म को उद्भासित कर दे......जैसे या एक्सकिरणें करती हैं......और फिल्म को डिवेलप (व्यक्त) करें तो कागज पर के धब्बों के सगत धब्बे, फिल्म पर प्रकट हो जाय। कागज पर के धब्बों के सगत धब्बे, फिल्म पर प्रकट हो जा। वर्णलेखों पर धब्बे कहाँ हैं, यह बताने के बेशुमार तरीके हैं मे कुदरत की ही चर्चा की है। ठीक उसी प्रकार नियन्त्रक

इसमें बंधों का निर्माण भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर होता है । बजाय इसके कि सारे के सारे अणु, स्तम्भ में पड़े बंधक पदार्थ से जुड़ जायं, केवल विद्युत्-आवेशित आयन ऐसा करते है । अम्ल, क्षार तथा उनके लवणों को जब पानी मे घोला जाता है तो वे खण्डित......या वियोजित...होकर आयन कहलाने वाले विद्युत्-आवेशित कणों को जन्म देते है । यथा, सोडियम क्लोराइड को हम रसायन में NaCl के रूप में निरूपित करते है. यह जल मे वियोजित होकर धनावेशित सोडियम आयनों(Na^+) तथा ऋणावेशित क्लोराइड आयनो (Cl-) को जन्म देता है ।

आजकल काम में आने वाले परम्यूटिट जल-मृदूकरो या कई किस्म के रेजिनों जैसे आयन-विनिमयकारी, भिन्न-भिन्न आकारो के कणों वाले पदार्थ होते है जिन्हें उन बंधक कणों की तरह कांच-स्तम्भो मे समरूपता के साथ भरा जा सकता है जिनका हम अभी वर्णन कर चुके है । रेजिन के ऐसे स्तम्भ, अपने से बंधित आयनों का ऐसे दूसरे आयनों के साथ विनिमय कर सकते है जो स्तम्भ में से सिमते हुए वियोजित पदार्थों के मिश्रण में उपस्थित होते हैं और जिनके लिए इनमें अधिक वैद्युत आकर्षण होता है । यहां भी आयनों को, एक-एक करके रेजिन से वियोजित करने के लिए, विशेष प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है और एक दूसरे से पृथक् रहकर, भिन्न-भिन्न रफ्तारो से स्तम्भ से बाहर जाने दिया जाता है ।

यह समझना मुश्किल नही कि इन वर्णलेखी प्रविधियों का अनुसंधान पर कितना क्रान्तिकारी प्रभाव हो चुका है । इनके द्वारा जिन अनेक समस्याओं का समाधान, अनुसंधान-वैज्ञानिक कर पाए हैं उनका विवरण देना हो तो एक पूरा पुस्तकालय बन जायगा । मैं यहाँ, थोड़े से उदाहरणों के द्वारा, यह बताना चाहता हूं कि इन प्रविधियों का उपयोग कैसे किया गया है ।

अम्ल के साथ गर्म करके या आंत्र के पाचक एंजाइमों द्वारा उपचरित करके, शरीर की प्रोटीनों को उनके एमिनो अम्लों में विखण्डित किया जा सकता है । फिर, जैसा कि हम देख आए हैं, कागज पर या आयन-विनिमय स्तम्भो द्वारा वर्णलेखन करके इन मिश्रणों के एमिनो अम्लों को पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है । शरीर के अनेक प्रोटीनों की संरचना का इसी प्रकार अध्ययन किया जा चुका है । सैंगर ने इंसुलिन की संरचना सम्बन्धी अपने अनुसंधान मे इंसुलिन के अणु को रासायनिक साधनों द्वारा पृथक् कर लिया था और वर्णलेखन का उपयोग करके इसके एमिनो अम्लों का निर्धारण कर लिया था । फिर, सुन्दर परीक्षणों की एक श्रृंखला द्वारा उसने यह भी प्रदर्शित किया कि जिस रूप में इन्सुलिन अग्न्याशय की कोशिकाओं द्वारा ...

है, उसमे इसके ये एमिनो अम्ल किस प्रकार व्यवस्थित है।

अब जब कि हमे इंसुलिन की सरचना ज्ञात हो गई है, दो बहुत महत्त्वपूर्ण काम सम्भव हो गए है। प्रथम, शरीर मे इसके कार्य के सम्भावित तरीको का अधिक निपुण अध्ययन किया जा सकता है। ऐसा करना इसलिए सम्भव हो गया है क्योकि हम यह जान सकते है कि इंसुलिन का अणु, कोशिका के किसी भाग के साथ किस प्रकार परस्पर क्रिया करके इसे ऐसा बना देता है कि इसमे से शर्करा तेजी के साथ गुजर सके। अगर हम यह जान जाय कि इंसुलिन कैसे कार्य करती है तो अग्न्याशय द्वारा इसका स्रावण बन्द होने से पैदा होने वाले रोग—मधुमेह—को भी हम अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। द्वितीय, हम इंसुलिन का निर्माण प्रयोगशाला मे करने के तरीके निकाल सकते है। तब इसका उत्पादन बहुत अधिक आसान और सस्ता हो जायगा क्योकि फिर इसे, आजकल की तरह, जानवरो के अग्न्याशयो से निकालने के लिए व्ययसाध्य और श्रमसाध्य तरीके नही बरतने पड़ेंगे। मधुमेही को इंसुलिन रोजाना लेनी पडती है और उसे बहुत खर्च करना पड़ता है। अगर यह सस्ती हो जाय तो उसकी बडी सहायता हो सकेगी।

बच्चो मे एक ऐसी बीमारी होती है जो उनके मन को प्रभावित करती है। इसका कारण यह होता है कि यकृत् को फेनिलेलानिन नाम के एमिनो अम्ल से जिस तरीके से निपटना चाहिए, उसमे नुक्स होता है। सामान्यतः यकृत्, इस एमिनो अम्ल को टाइरोसिन नाम के दूसरे एमिनो अम्ल मे परिवर्तित कर देता है। इस रोग मे फेनिलेलानिन के टाइरोसिन मे परिवर्तित होने की रफ्तार, सामान्य बच्चो के मुकाबले, बहुत अधिक धीमी होती है। परिणामत, फेनिलेलानिन तथा इससे मिलते-जुलते कुछ और एमिनो अम्ल रुधिर मे जमा हो जाते है और ये किसी न किसी प्रकार मस्तिष्क को क्षति पहुँचा देते है। वर्णलेखन के उपयोग से इन एमिनो अम्लो की रुधिर तथा मूत्र मे उपस्थिति का ज्ञान हो गया, रोग के कारण को अधिक अच्छी तरह समझ लिया गया और अब इसकी पहचान तथा इलाज आसानी से किया जा सकता है। प्रारम्भ से ही बच्चे की खुराक मे फेनिलेलानिन की मात्रा को कम रख कर, रुधिर मे इसकी मात्रा को नीचा रखा जा सकता है और इससे होने वाली मानसिक मन्दता से बचाया जा सकता है। इस प्रकार वर्णलेखन ने इस रोग को पहचानना और इसका पीछा करना बहुत अधिक आसान कर दिया है और जिस बच्चे मे इसका पता जल्दी लग जाया करेगा उसमे इससे उत्पन्न होने वाली मानसिक क्षति हुआ ही नही करेगी।

प्रत्येक वृक्क के ठीक ऊपर पीले से रग का और पिरैमिड की शकल का

एक अंग होता है जिसे अधिवृक्क ग्रन्थि कहते है। ये दोनो ही इस प्रकार के होते हैं मानो दो-दो ग्रन्थियाँ एक-एक ग्रन्थि मे ही रख दी गई हो। इनका अन्दरला हिस्सा उस एड्रिनलिन को स्रावित करता है जो हृदय की गति के दर को, रुधिर के दबाव को तथा रुधिर मे शर्करा की मात्रा को प्रभावित करता है। बाहरला हिस्सा कार्टेक्स (वल्कुट) कहलाता है और अनेक हार्मोनो को स्रावित करता है जो कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन के ज्वलन को नियमित करते है तथा वृक्क द्वारा जल तथा लवण के उत्सर्जन को भी। यह तो अर्से से ज्ञात है कि कार्टेक्स के इन हार्मोनो में से कइयों के निर्माण तथा निर्मुक्ति का नियंत्रण, मस्तिष्क के पेंदे मे पड़ी पीयूषग्रन्थि द्वारा होता है। लेकिन यह ज्ञात नही था कि यह, नियत्रण कार्य कैसे करता है या कि कार्टेक्स के हार्मोनों मे से कौन-कौन सा इससे प्रभावित होता है।

इन प्रश्नों में से कइयो का उत्तर प्राप्त करने के लिए वर्णलेखन से काम लिया गया है। पीयूषग्रन्थि का, अधिवृक्क वल्कुट को उद्दीपित करने वाला हार्मोन (ए सी टी एच) पर्याप्त शुद्ध रूप मे बना लिया गया है। पशुओं पर ऐसे परीक्षण किए जा चुके है जिनमे अधिवृक्क वल्कुट से आने वाला रुधिर जमा किया जाता है। जब तुलना के लिए रुधिर के अनेक नियत्रक नमूने प्राप्त किए जा चुकते है तब इजेक्शन द्वारा ए सी टी एच को रुधिर-धारा में प्रविष्ट किया जाता है। इसके बाद, नियमित अन्तरों पर, अधिवृक्क शिरा से रुधिर के और नमूने प्राप्त किए जाते है। अब, रुधिर के इन नमूनो मे से प्रत्येक का थोड़ा-थोड़ा भाग निस्यदनपत्र पर लगा दिया जाता है और उनके वर्णलेख बना कर देखा जाता है कि उनमें कौन-कौन से वल्कुट-हार्मोन उपस्थित है। इन वर्णलेखो से सिद्ध हो जाता है कि नियंत्रक नमूनो में प्राय: कोई भी हार्मोन नही होता लेकिन ए सी टी एच के इंजेक्शन के बाद कई नए धब्बे प्रकट हो जाते हैं जिनमे से प्रत्येक किसी न किसी एक हार्मोन का होता है। ज्यूं-ज्यूं समय गुजरता है ये स्पष्टतर होते जाते है और बाद मे लुप्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ए सी टी एच द्वारा अधिवृक्क-वल्कुट से कराई गई हार्मोन-निर्मुक्ति, एक सीमित अवधि तक चलती है और फिर बन्द हो जाती है। इन वर्णलेखो की तुलना, वल्कुट-हार्मोनो के शुद्ध नमूनो से बने वर्णलेखो के साथ करके रुधिर के इन नमूनो से बने विभिन्न धब्बों की पहचान की जा सकती है।

इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि ए सी टी एच द्वारा उद्दीपित होकर यह ग्रन्थि जो हार्मोन निर्मुक्त करती है उनमें से प्रमुख है हाइड्रोकार्टिसोन। अन्य हार्मोनो की छोटी-छोटी मात्राएं भी निर्मुक्त होती हैं। इस शोधकार्य ने

भी सिद्ध कर दिया कि वृक्कों द्वारा जल तथा लवण के उत्सर्जन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले हार्मोन, एल्डोस्टिरोन, का नियमन पीयूष ग्रन्थि के ए सी टी एच द्वारा बिल्कुल नही होता।

अधिवृक्क-वल्कुट के हार्मोनो का सेवन उन व्यक्तियो को कराया जाता है जिनकी अपनी अधिवृक्क ग्रन्थिया रोग के कारण, इनका निर्माण बन्द कर चुकी होती है। यह चिकित्सा ऐसे लोगो की जानें बचा देती है। डाक्टर लोग वही हार्मोन देना चाहते हैं जिनको ग्रन्थियां प्राकृत रूप से स्रावित करती हैं। अब हम समझ सकते है कि ए सी टी एच तथा अधिवृक्क-शिरा के रुधिर के वर्णलेखों से किए गए परीक्षण कितने महत्त्व के सिद्ध हुए हैं। पहले कभी हम यह नही जानते थे कि यह ग्रन्थि ठीक कौन-कौन से हार्मोनों को प्राकृतिक रूप से स्रावित करती है। अब हम, परिशुद्ध ज्ञान के आधार पर, चिकित्सा की दिशा को अधिक निपुणता से निर्धारित कर सकते हैं।

प्रत्येक कोशिका के केन्द्रक मे क्रोमोसोम (गुण सूत्र) होते है। इन क्रोमोसोमों मे वे जीन होते हैं जो यह निर्धारित करते है कि हमारा शरीर और व्यवहार कैसा बनेगा। जब कोई कोशिका विभाजित होती है तो संतति-कोशिकाओ को जीनों की बराबर-बराबर संख्या प्राप्त होती है। जीन उस जादुई पदार्थ के बने होते हैं जो वृद्धि के दौरान कोशिका के भीतर नई प्रोटीन के जटिल निर्माण को निर्देशित करता है। इस पदार्थ का सम्बन्ध रसायनों के उस वर्ग से है जिसे न्यूक्लीक अम्ल कहा जाता है और जो रूप कोशिका के केन्द्रक मे होता है उसे डिऑक्सिरिबोन्यूक्लीक अम्ल या, संक्षेप मे, डी० एन० ए० कह देते है। हाल के सालो मे, भव्य आविष्कारो की एक शृंखला ने हमे इस बारे मे बहुत कुछ बता दिया है कि डी एन ए किस प्रकार वृद्धि को तथा शरीर की विशेषताओं के आनुवंशिक संचरण को नियंत्रित करता है। लगे हाथ हमने इस बारे मे भी बहुत कुछ जान लिया है कि डी एन ए का बृहदणु कैसा दीखता है और कैसे बनता है। इन परीक्षणों में वर्णलेखन ने बड़ा योगदान किया है।

डी एन ए का अणु, तंतु के ऐसे दोहर धागो से बना होता है जो सर्पिल रूप मे एक दूसरे पर कुण्डलित होते है। इनका निर्माण प्यूरिन तथा पिरिमिडिन नाम के नाइट्रोजनयुक्त पदार्थों के वर्ग से होता है। सिरों की तरफ से, शर्कराओ के साथ संलग्न फास्फेट अणुओ के द्वारा जुड़े होते है और आड़े रुख ऐसे पुलों द्वारा जिनमें हाइड्रोजन के परमाणु आक्सिजन तथा नाइट्रोजन के साथ बंधित होते है।

जीवरसायन के विशेषज्ञों का अर्से से यह विचार रहा है कि अगर क्रोमो-

सोमों के डी एन ए में इन प्यूरिनों तथा पिरिमिडिनो की व्यवस्था को समझा जा सके तो यह समझा जा सकेगा कि किस प्रकार डी एन ए यह निर्धारित करता है कि कोशिका ने किस-किस प्रकार की प्रोटीनें बनानी है और, इस प्रकार, यह भी कि शरीर की विशेषताओं का निर्धारण कैसे होता है। डी एन ए की संरचना का विश्लेषण, इस अनुसंधान की लपेट मे आ गया है। पहले इस अणु को पृथक् करके इसके घटकों का विश्लेषण किया गया। बाद मे परीक्षण नलियों का ऐसा तंत्र बनाया गया जो डी एन ए का पुनर्निर्माण इस प्रकार पैड़ी दर पैड़ी करे कि प्रत्येक पैडी को सावधानी के साथ नजर में रखा जा सके। जिन लोगो ने अनुसंधान के इन दोनों खण्डों को क्रियान्वित किया उन्हे हाल के सालों मे चिकित्सा सम्बन्धी नोबेल पुरस्कार मिल चुके हैं। डाक्टर क्रिक, डाक्टर वाट्सन तथा डाक्टर विल्किन्स को यह १९६२ में मिला था क्योकि उन्होने डी एन ए की संरचना निर्धारित की थी और डाक्टर आर्थर कोर्नबर्ग को १९५९ मे क्योंकि उसने उन एंज़ाइमो का पता लगाया था जो डी एन ए का निर्माण करते है।

डी एन ए के पैडी दर पैडी विखण्डन मे प्यूरिन तथा पिरिमिडिन कागजी आयन विनिमय वाले वर्णलेखन द्वारा पहचाने जाते है। इस प्रकार न सिर्फ वे तथा पहचाने गए बल्कि उनके सान्द्रणो का अनुपात भी ज्ञात हो गया और इस प्रकार, डी एन ए की संरचना के निर्धारण के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवस्था उत्पन्न हो गई। फास्फेट, डी एन ए अणु का एक महत्त्वपूर्ण भाग है अतः डी एन ए के निर्माण को निष्पन्न करते वाली रासायनिक अभिक्रियाओं पर नजर रखने के लिए रेडियोएक्टिव फास्फोरस का बहुत उपयोग किया गया है। इस प्रक्रम के विभिन्न चरणों में, उत्पादो को वर्णलेखन द्वारा वियोजित तथा पृथक् किया जाता रहा है। प्रक्रम के किस काल में तथा किन उत्पादों पर रेडियोएक्टिव लेबल प्रकट हो जाता है, यह देखकर यह पहचानना सम्भव हो गया है कि डी एन ए का सयोजन कैसे किया जाता है।

वर्णलेखन के विकास, तथा अनुसंधान में इसके प्रभावों की सारी कहानी और भी अनेक ऐसी विधियों पर लागू हो सकती है जिनकी चर्चा हम कर सकते थे। लेकिन वर्णलेखन, वैज्ञानिक अनुसंधान की अनेक स्थितियों मे सरलता तथा उपयोगिता का इतना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है कि मुझे एक बढ़िया तरीके की चर्चा के लिए यह बहुत जंचा है।

११

खोज करता कौन है

जो लोग अनुसंधान करते है उनकी पृष्ठभूमियां अनेक और भिन्न-भिन्न होती है और वे तरह-तरह की संस्थाओं मे काम करते हैं। कई ऐसे होते हैं जो किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय मे जाकर जीवविज्ञान या रसायन का अध्ययन करते है। कुछेक को पहले पता ही नही होता कि उन्हे कभी अनुसंधान भी करना पड़ेगा और वे साहित्य या भाषाओं के अध्ययन में लगे रहते हैं। लेकिन इससे सदा हानि हो, सो बात नही। सच पूछो तो इससे उन्हे समस्याओं के स्पष्टतर अवबोध में और विज्ञान तथा अन्य विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में सहायता मिलती है। फिर भी देर या सवेर, उन्हे विज्ञान के उन पाठ्यक्रमों को पढना ही पड़ता है जो स्नातक बनने योग्य वह कार्य करने के लिए तैयार करते है जो अनुसंधान के व्यवसाय तक पहुँचाता है।

इस कार्य को करते-करते जीवविज्ञान, रसायन या शरीर-क्रिया-विज्ञान में पीएच० डी० की उपाधि मिल सकती है या चिकित्सा महाविद्यालय से एम० डी० की। ऐसी सूरत मे अनुसधान या अध्यापन के धंधे मे प्रवेश का निश्चय, चिकित्सा महाविद्यालय के चार वर्षों मे ही किसी समय हो जाता है, या बाद में हस्पताली अन्तेवासित्व (इटर्नशिप) के दौरान। कुछ लोग तो और अधिक औपचारिक प्रशिक्षण लिए बगैर ही सीधे अनुसधान कार्य में पड जाते है; ये लोग प्राय: किसी पुराने अनुभवी व्यक्ति से यह कार्य सीख लेते है। कुछ लोग एम० डी० उपाधि से लैस होने के बावजूद, और काम करके पीएच० डी० बनने की ठान लेते हैं। डाक्टर कोर्नबर्ग ने १९५९ का चिकित्सा-विषयक नोबेल पुरस्कार जीता था; उनने स्नातकोत्तर प्रशिक्षण नही लिया था; उसने

चिकित्सा-स्नातक बनते ही एक अनुसंधान-शिक्षावृत्ति ले ली थी और जीव-रसायन के अनुसंधान तथा अध्यापन में लग गया था। सो, कोई रामबाण नुस्खा तो है नहीं। हर एक अनुसंधानकर्ता को अपनी प्रकृति और परिस्थितियों के अनुसार चलना पड़ता है। फिर, आजकल, जब कि प्रविधियां इतनी विशिष्टीकृत हो गई हैं, ज्ञान का भण्डार इतना विशाल हो गया है और उत्कृष्ट अनुसंधान के लिए प्रशिक्षित मन इतना आवश्यक हो गया है, अधिकांश अनुसंधानकर्ताओं के लिए किसी न किसी रूप में विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षाओं से अधिक प्रगत प्रशिक्षण प्राप्त करना जरूरी हो गया है।

किसी विशेष कार्यक्षेत्र में जो विभिन्न तरीके हम स्वयं खोज निकालते हैं वे बड़े दिलचस्प होते हैं। कुछ लोगों में—जिनका मैं स्वयं एक अच्छा उदाहरण हूं—किसी विशेष समस्या के, यहां तक कि दिलचस्पी के किसी व्यापकतर क्षेत्र की स्पष्ट कल्पना के बिना ही, यह इच्छा पहले जाग उठती है कि अनुसंधान करना है। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे आदमी से आपका साक्षात्कार हो जाता है जिसके अनुसंधान के विषय आपको रोचक लगते हैं, इसलिए आप उसके साथ काम करने लगते हो और कुछ काल बाद आपके अपने अन्दर एक ऐसी रुचि पैदा हो जाती है जिसे आप अपनी निज की कह सकते हैं। इसके कारण विशेष प्रशिक्षण की एक अवधि और नई प्रविधियों तथा कल्पनाओं पर आधारित एक नए क्षेत्र का विकास शुरू हो जाता है।

हममें से कुछेक के मन में अनुसंधान के क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले इस बात की स्पष्ट कल्पना होती है कि हम क्या करना चाहते हैं। कइयों के मन में तो एक विशिष्ट समस्या भी होती है और उससे जूझने की योजना भी। फिर भी आमतौर पर इन लोगों को पक्का पता उस क्षेत्र मात्र का होता है जिसमें वे शोध करना चाहते हैं, जैसे, तंत्रिकातंत्र, हृदय, वृक्क, कैंसर या आमवातिक (रूमेटी) ज्वर। अनुसंधान के प्रारम्भिक विद्यार्थियों में से बहुत कम के मन में किसी समस्या की सुविचारित कल्पना और उसका अध्ययन करने के लिए परीक्षणों की सुनिश्चित योजना होती है और यह कोई दोष भी नहीं है। हम तो चाहते हैं कि अनुसंधान का प्रशिक्षण प्रगति करता-करता ऐसी स्थिति में पहुंच जाय कि परीक्षणाधीन समस्या, शिक्षक से मिलने वाले निर्देशन पर उत्तरोत्तर कम निर्भर करती जाय और विद्यार्थी की अधिकाधिक नि? समस्या बनती जाय; शिक्षक से, हर बात पर मार्ग-प्रदर्शन लेने के कभी-कभी ही परामर्श लिया जाय। वह व्यक्ति पसन्द किया जाता है स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता रखता हो और ज्यूं-ज्यूं उसका काम आगे वह इस क्षमता का अधिकाधिक प्रयोग कर सके। शीघ्र ही

आ जाती है कि वह सुझावों की तलाश में अपने शिक्षक के पास बार-बार जाना छोड़ देता और अपने दिमाग से उन्हें पैदा करने लगता है। ऐसा होते ही वह स्वतंत्र अन्वेषक बन जाता है।

किसी भी तरीके से एक बार प्रशिक्षित हो जाने के बाद वह समय आ जाता है कि कोई पद तलाश किया जाय। जीवन के इस मोड़ पर भिन्न-भिन्न सम्भावनाओं वाले कई मार्ग सामने आते हैं। कई पुरुष और स्त्रियाँ ऐसा पद चाहती है कि अध्यापन भी चले, अनुसंधान भी; ऐसे लोगों को किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय जैसे किसी स्नातक-शिक्षणालय में ऐसा काम मिल जाता है। ऐसी व्यवस्था से जीवन को बड़ी प्रेरणा मिलती है क्योंकि अध्यापन तथा अनुसंधान का अनुपात ठीक रहे तो ये दोनों चीजें एक दूसरे को बहुत लाभ पहुँचाती है। अधिकांश लोगों का अनुभव है कि अनुसंधान उनके मस्तिष्क को क्रियाशील रखे तो वे अध्यापन कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं और अध्यापन कार्य से अनुसंधान के लिए अनेक उत्कृष्ट विचार मिलते रहते है। चूंकि अनुसंधान की दृष्टि से अच्छे विचार, उन चीजों का परस्पर-सम्बन्ध समझने से मिलते है जिन्हे पहले सम्बद्ध नहीं माना जाता रहा, अतः अध्यापन की तैयारी—विशेषतः उस क्षेत्र में जो अभी विशेषज्ञता के संकुचित दायरे से बाहर हो—ऐसे सम्बन्धों को देखने के अवसर प्रायः मुहय्या कर देती है। उदाहरण के तौर पर, मुझे याद है कि एक बार मैं श्वसन के तंत्रिका-नियंत्रण का पाठ पढा रहा था तो मुझे वृक्क के कार्य के बारे में एक नया विचार सूझ गया था।

दूसरे लोग किसी औद्योगिक प्रयोगशाला में, वाशिंगटन के बाहर बने राष्ट्रीय स्वास्थ्य-संस्थान जैसी सरकारी अनुसंधानशाला में या न्यूयार्क सिटी के राकफेलर संस्थान जैसी किसी प्राइवेट अनुसंधान-संस्था में पूरा समय अनुसंधान ही करना अधिक पसन्द करते हैं। अपने मुतल्लक आपको जो ज्ञान है उसके आधार पर आप ही बता सकते हैं कि आपके लिए उत्तम क्या रहेगा। कइयों को यह जानने के लिए भी एक दो जगह आजमा के देखना पड़ता है।

साधारणतया किसी विश्वविद्यालय का कोई पद, चा॰
अनुसंधान करने का हो या अध्यापन के साथ अनुसंधान का,
उत्तम स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इसमें तनख्वाह इतनी
जितनी उद्योगों वाले पदों में; लेकिन कुछ लोगों को ऐसा
विश्वविद्यालय के पद के विशेष लाभ इस फर्क की कसर
फिर, आज तो यह फर्क भी इतने नहीं रहे जितने आज
अच्छे उद्योगों तथा सरकारी संस्थानों ने समस्या के पु

के लिहाज से प्रायः विश्वविद्यालयों की प्रयोगशालाओं जैसी ही अनुसंधान-शालाएं स्थापित कर दी हैं। उन्हें पता लग चुका है कि इन परिस्थितियों में अनुसंधान के क्रियात्मक परिणाम अधिक अच्छे रहते हैं।

जीवविज्ञान तथा चिकित्सा के क्षेत्रों में प्रशिक्षित अनुसंधानकर्ता तथा अध्यापक को आकृष्ट करने में आजकल दो बड़ी ताकतों का मुकाबला है। एक तरफ तो विश्वविद्यालय हैं जो कि बढ़ती हुई आबादी की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तेजी से फैल रहे हैं और, अतएव, अनुसंधान-कर्ताओं तथा अध्यापकों सम्बन्धी उनकी आवश्यकताएं भी बढ़ती जा रही हैं। दूसरी तरफ कांग्रेस (प्रतिनिधि सभा) तथा विशेष हितों वाले समूह हैं जो कि अधिकाधिक अनुसंधान द्वारा खाद्य की बड़ी-बड़ी समस्याओं के समाधान पर बहुत जोर दे रहे हैं। इस कारण, इन लोगों के लिए, इन संस्थानों के लिए तथा इनके काम के बहुत खर्चीले उपकरण के खर्च को उठाने के लिए अधिका-धिक धन सुलभ होता जा रहा है। यह विचार-शैली हर मौके के लिए तो अच्छी नहीं है लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, परमाणुबम के निर्माण में सफलता "सघन कार्यक्रम" से ही मिली थी; तब से जीवन-दर्शन ऐसा बन गया है कि मानव की हृदयरोग, पोलियो (पक्षाघात), मानसिक अस्वास्थ्य, मधुमेह, सधिशोथ तथा कैंसर जैसी बड़ी-बड़ी स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान

RESEARCH is a $16 billion search for new facts and ideas carried on by four groups of scientists
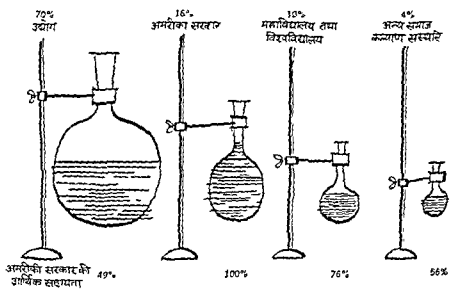
भी उसी तरह सघन कार्यक्रमो द्वारा हो सकता है। ऐसे विचार के लोग कहते है कि हमे सिर्फ़ बहुत से आदमी चाहिए जो काम करने वाले हों और बहुत साधन चाहिए जिससे उनका काम चलता रहे, फिर, समाधान अवश्य प्राप्त होंगे। धन और प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता तो जरूर है, लेकिन यह नही कहा जा सकता कि इनकी उपस्थिति मात्र से, सबसे आवश्यक चीज—सूझ—की उत्पत्ति में भी सहायता मिल जाएगी। जो भी हो, इस जन-दर्शन ने और बहुत से पूर्णकालिक अनुसंधानपदो की स्थापना कर दी है और जो लोग पूरा समय अनुसंधान मे ही लगाना चाहते हैं उनके लिए और अधिक अवसर पैदा हो गए है। इसने विश्वविद्यालयों के लिए समस्याएं पैदा कर दी है, उनके शैक्षिक पदों की सख्या बढ रही है लेकिन उन्हें भरने के लिए आदमी पा सकना कठिन होता जा रहा है।

बिला लिहाज़ा इसके कि आप अनुसंधान के क्षेत्र में कैसे प्रवेश करते हैं या कौन सा पद प्राप्त करते है, अनुसंधान मे कतिपय ऐसी व्यापक विशेषताएं है जिनके कारण यह मानव का एक ऐसा रचनात्मक कार्य बन गया है जो मागता भी सबसे अधिक है और देता भी सबसे अधिक है।

१२

उपसंहार

वास्तविक आविष्कारों के इन विवरणों मे मैंने इस बात की थोड़ी सी झाकी देने की कोशिश की है कि विज्ञान तथा अनुसंधान का मतलब क्या है। विज्ञान प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान के सिवाय और कुछ नही है और अनुसधान वह तरीका है जिसे विज्ञान, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए बरतता है। मेरा विचार है कि मैं यह दर्शाने में सफल रहा हूं कि अनुसंधान का मतलब प्रेक्षण तथा तथ्यो के अभिलेखन मात्र से बहुत अधिक है। इसमे शक नही कि अनुसधान मे इनका महत्त्व है लेकिन उत्कृष्ट वैज्ञानिक बनने के लिए इस सबसे आगे बढना पडता है। उसके लिए स्पष्ट मति तथा कल्पनाशील विचारक होना आवश्यक होता है। अच्छे प्रश्नों के रूप में उसके मन में विचार उठते रहने चाहिएं, ये प्रश्न प्रायः ऐसे पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को देख कर पैदा होते है जिन्हे पहले सम्बद्ध नही माना जाता रहा। ऐसे विचार उस सुपरिकल्पित परीक्षण का आधार बन जाते है जो वैज्ञानिक के लिए प्रकृति के रहस्यागार का द्वार खोल देता है।

वैज्ञानिक, प्रकृति के बारे मे कुछ निपुण अनुमान करता है, उसके आधार पर अपने एक परीक्षण को डिजाइन करता है और इसके दौरान जो प्रेक्षण तथा पैमाइशें प्राप्त होती है उन्हे रिकार्ड करता जाता है। फिर वह अपने को, अपने पूर्वकल्पित विचारो से यथासम्भव मुक्त करके पूछता है: "इन प्रेक्षणो से वास्तव मे क्या प्रकट होता है? क्या वे मेरे मूल विचार को सम्पुष्ट

करते हैं या इनका अर्थ कुछ और ही है?" इस प्रकार की शका उठा कर वैज्ञानिक अपने एक सर्वोत्कृष्ट गुण का परिचय देता है—उसका मन निष्पक्ष है तथा उसकी सबसे अधिक रुचि सत्य में है। उसे तो अपनी शक्ति भर सचाई का ही पता लगाना है और इसके लिए उसे अपने प्रेक्षणों के बारे में अपना विचार—अपने या दूसरों के शोधकार्य के आधार पर—बदलने के लिए तय्यार रहना चाहिए। विज्ञान इस रवैय्ये का तकाजा करता है और इस बात का भी कि परीक्षणों के डिजायन तथा विवरण ऐसे होने चाहिए कि अगर दूसरे लोग भी उन परीक्षणों को वैसी ही नियंत्रित अवस्थाओं मे दोहराए तो परिणाम वही निकलें जो मूल अनुसंधानकर्ता को प्राप्त हुए थे।

परीक्षणात्मक प्रेक्षणों की व्याख्या के बारे मे वैज्ञानिको में मतभेद हो सकता है और होता भी है। यह स्वाभाविक ही है। हमारे विज्ञान का इतिहास ऐसा ही रहा है और प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे विचारों का विकास ऐसे ही होता रहा है। क्यूवियर, बफ्फन तथा डार्विन से पहले भी अनेक लोगो ने फासिलों (जीवाश्मों) को देखा था लेकिन उनमें से किसी ने भी इनका वह अर्थ नही समझा जो इन व्यक्तियों ने पहले पहल समझा था। सर आइजक न्यूटन ने गतिशील पदार्थो के व्यवहार के बारे में कुछ ठीक-ठीक प्रेक्षण किए थे और इन प्रेक्षणों से गति के कुछ नियम निगमित किए गए थे जिन्हें—आइंस्टाइन के आविर्भाव तक—सारा संसार मानता रहा। आइंस्टाइन ने उन्ही प्रेक्षणो मे एक भिन्न अर्थ देखा, उनमें कुछ नए प्रेक्षण जोड़े और कुछ नए परिकलन करके यह विचार प्रस्तुत किया कि गतिशील पदार्थो पर किए गए प्रेक्षण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें कैसे देखा जा रहा है। प्रेक्षक जो कुछ देख रहा है उसे प्रेक्षक की स्थिति निर्धारित करती है। अत., वह जो कुछ देख रहा है वह इस बात का आपेक्षिक है कि वह इसे कैसे देख और नाप रहा है और इस प्रकार आइंस्टाइन के आपेक्षिकतावाद का जन्म हुआ।

प्राचीनतम काल से ही मनुष्य, हृदय, फेफड़ो, रुधिर-वाहिनियों तथा रुधिर को देखते आए है और अपने प्रेक्षणों की व्याख्या भी करते आए है। वे समझते रहे हैं कि हृदय से धकेला हुआ रुधिर यकृत् मे जाता है जहां यह प्राणियों के जीवन का सत्व बनकर खर्च होता रहता है। जब तक हार्वे, सत्रहवी सदी में, इन मान्यताओं को चुनौती देकर कुछेक प्रतिभाशाली परीक्षणों को डिजाइन नही कर सका तब तक वह अपने सामने आने वाले, शरीर की रचना तथा क्रिया सम्बन्धी "तथ्यो" में एकदम नया अर्थ नही देख सका था। उसने देखा था कि धमनियों मे का रुधिर, हृदय से परे जा रहा होता है और शिराओं मे

हार्वे

का हृदय की ओर आ रहा होता है। उसने हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ निकलने वाले रुधिर की मात्रा को नापा और हिसाब लगाया कि अगर यह सारा रुधिर यकृत् में जाता है और पुनः प्रयोग के लिए शरीर को नहीं मिलता तो शरीर में रुधिर की कुल मात्रा कितनी होनी चाहिए। इन तथा अन्य परीक्षणों के आधार पर हार्वे ने—अपनी कल्पना में—विचारों की ऐसी शृंखला का निर्माण किया जो उसके प्रेक्षण में आए तथ्यों की सबसे अधिक तर्कसंगत व्याख्या कर सके। अन्तत., उसने निष्कर्ष यह निकाला कि रुधिर का संचरण होता है, यह हृदय से निकल कर धमनियों में, फिर कोशिकाओं में और वहाँ से शिराओं में घूमता हुआ पुनः हृदय में लौट आता है और इस प्रक्रम में लुप्त नहीं हो जाता। जब हार्वे ने १६२८ में इसे प्रकाशित किया तब यह एकदम नया विचार था।

तथ्यों की इस प्रकार की कोई व्याख्या प्रकृति का नियम कैसे मान ली जाती है? यह प्रक्रम क्रमशः मनुष्यों के मन में चलता रहता है और इसको सहायता मिलती है, अनुभव से। जिन तथ्यों का हार्वे ने तीन सौ साल पहले प्रेक्षण किया था उनकी किसी नई व्याख्या ने न तो हार्वे की व्याख्या को परिवर्तित किया है, न उसके शुद्ध प्रेक्षणों का कोई बेहतर मतलब पेश किया है। इसलिए अब रुधिर के परिसंचरण सम्बन्धी, हार्वे की कल्पना या सिद्धान्त सर्वसम्मत नियम बन चुका है।

इस विचार-विमर्श से यह बात उभर कर सामने आती है कि विज्ञान तथा

उसके तरीके, उनके बारे में प्रचलित सामान्य धारणा से कितने भिन्न हैं। इससे सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक भी, रचनात्मक गुणों तथा कार्यविधियों की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति होता है जो एक कलाकार से बहुत मिलता-जुलता है। सच तो यह है कि चाहे वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता हो चाहे चित्रकार, लेखक, या कवि, ये सब प्रयोगवादी होते है। (१४वी से १६वीं सदी तक के यूरोप के) पुनर्जागरण के जमाने के कलाकारो ने यह आविष्कार किया था कि वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत रंग तथा रेखागणित के नियमों से काम लेकर चित्रों में निकटता या दूरी का आभास (—संदर्श—) कैसे दिया जा सकता है। जो चीजें तब तक असम्बद्ध रही थीं उन्हें उन्होंने नए विचारों के रूप मे सम्बद्ध कर दिया था और यह, जैसा कि हम देख आए हैं, अच्छे अनुसंधान का एक उत्कृष्टतम लक्षण है। इस प्रकार, कुछ पहलुओं से, वैज्ञानिक अनुसंधान को भी कला का एक रूप माना जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ कैसे हुआ और कब, और जीवन, विश्व तथा विश्व मे मानव की भूमिका से सम्बद्ध हमारे अवबोध के लिए इसने क्या कुछ किया है? ये प्रश्न बड़े महत्त्व के है और बहुत लोगो ने इसमे दिलचस्पी दिखाई है क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधान ने हमारे समाज, हमारे जीवन के तौर-तरीके, युद्ध के स्वरूप, रोग की चिकित्सा, तथा हमारे परम्परागत धार्मिक विश्वासों पर गहरा प्रभाव डाला है। शायद ही कोई चीज बची हो जो विज्ञान से प्रभावित नही हुई है।

ठीक-ठीक यह कहना बहुत कठिन है कि आधुनिक विज्ञान का जन्म कब हुआ था। सच पूछो तो इसका जन्म तभी हो गया था जब विचारशील मानव के मन में अपने तथा अपने पर्यावरण के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। अरस्तू द्वारा तर्कशास्त्र का आविष्कार, निःसन्देह, आधुनिक वैज्ञानिक विधि को मिलने वाले महत्वपूर्ण—लेकिन अपूर्ण—योगदान को निरूपित करता है। ईसा-पूर्व की चतुर्थ शताब्दी में पाइथेगोरस ने समस्वरित तारो की सुस्वरता के बारे मे पता लगाया था और इस तथ्य का भी कि किसी समकोण-त्रिभुज के कर्ण पर बना हुआ वर्ग, अन्य दो भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है। ये वस्तुतः "आधुनिक" वैज्ञानिक आविष्कार के उत्तम कोटि के उदाहरण [illegible]

ऐसी बातों के और भी उदाहरण दिए जा सकते है जो [illegible]
लोगों को सूझी थी लेकिन जिनकी आधुनिकता आश्चर्यजनक [illegible]
विचार है कि विज्ञान के आधुनिक युग का नाटकीय आरम्भ [illegible]
साथ, १५४३ में। पाश्चात्य लोगों के प्राचीन धार्मिक [illegible]
करने में उसके सौर-परिवार सम्बन्धी अनुसंधानों ने [illegible]

अरस्तू

उस समय तक की किसी घटना ने नही किया था।

मध्ययुग की पारम्परिक ईसाई धारणा के अनुसार पृथ्वी, विश्व का केन्द्र थी और मानव, भगवान् की उत्कृष्टतम तथा विशेषतम कृति और उसकी चिन्ता का मुख्य विषय था। ऐसा माना जाता था कि आकाश के तारे, चारों ओर घूमती हुई एक गोल छत मे जड़े हुए हैं और इस छत के परे शून्य ही शून्य है। जैसा कि हम डार्विन-अध्याय मे देख आए हैं, इस मत के अनुसार यह पृथ्वी और इसके सब जीवित प्राणी और मानव भी, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने अपने हाथ के एक ही झटके में बना डाले थे और कालक्रम से आती रहने वाली महा-विपत्तियों मे से गुजर कर मानव अपने वर्तमान रूप मे जीवित बच रहा है।

कोपर्निकस ने इस मत को चुनौती देने का साहस किया और अपने परीक्षणों द्वारा पूर्णतया सिद्ध कर दिया कि हमारे ग्रहमण्डल का केन्द्र पृथ्वी नहीं, सूर्य है, और यह भी कि पृथ्वी तो, अपनी-अपनी कक्षा मे रह कर सूर्य की परिक्रमा करने वाले ग्रहों के एक समूह का एक सदस्य मात्र है। इस प्रकार यह धारणा कि पृथ्वी, एक संवृत विश्व का केन्द्र है, नष्ट हो गई और अब हम यह जान चुके हैं कि हमारा सौर परिवार भी एक बड़ी भारी आकाशगंगा (गेलेक्सी) का एक छोटा-सा भाग मात्र है और यह भी कि प्रत्यक्षतः विश्व की कोई सीमा नहीं है, यह तेजी से फैलता जा रहा है, तथा इसमे और गेलेक्सियां भी है जिनके अपने सौर परिवार हैं जो सारे अन्तरिक्ष में बिखरे पड़े है। सम्भव है इनमे से कइयों में जीवित प्राणी हों और शायद मानव से अधिक समझदार भी हों।

विज्ञान की और भी कई प्रमुख खोजों ने मानव के मध्ययुगी मतों का खण्डन करने का तथा वैज्ञानिक और धार्मिक दुनियाओं में भारी संघर्ष पैदा करने का काम किया है। इनमें से सर्वप्रथम था डार्विन का विकासवाद जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। इसने भी मानव को परमात्मा की विशिष्ट सन्तान के सिंहासन से उतारा और उसे—लंगूरों की तरह—जीवित

कौपर्निकस

पदार्थों के विकास-क्रम की एक अवस्था-मात्र माना। इस सिद्धान्त सम्बन्धी वाद-विवाद की उग्रता अब बहुत कम हो चुकी है लेकिन टेनेसी के पब्लिक स्कूलों में विकासवाद की शिक्षा देना अब भी निषिद्ध है।

बोहीमिया के ब्रून नगर के आगस्टीनी पादरी जार्ज मेंडल ने १८६५ में उद्यान-मटरों पर किए अपने परीक्षणों के आधार पर आनुवंशिकता के नियमों सम्बन्धी अपने आविष्कार की घोषणा की थी। हम क्या हैं, इसकी व्याख्या को इन निष्कर्षों ने भी प्रक्रमों की उस शृंखला में समेट कर रख दिया जो प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार हमारे जीनों द्वारा क्रियान्वित होते हैं। वैसे, अगर कोई चाहे तो इन सुन्दर प्रक्रमों के क्रमबद्ध क्रियान्वयन में भगवान् के कृतित्व के दर्शन कर सकता है।

आइंस्टाइन ने आपेक्षिकता सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों को प्रकाशित करके, भौतिक विज्ञान के उन विश्वासों के ढांचे को और भी धक्का पहुंचाया जो लग-

परमाणु बम बना सकती हैं, क्या इस वास्ते भौतिकीविदों को परमाणु-भौतिकी में अनुसंधान-कार्य बन्द कर देना चाहिए ? चूंकि जीवाणु-युद्ध की तकनीकों द्वारा उन रोगों को किसी आबादी में विशाल पैमाने पर उत्पन्न किया जा सकता है, इस वास्ते क्या जीवाणु-वैज्ञानिकों को चाहिए कि जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों पर अनुसंधान बन्द कर दें ? नहीं। लार्ड रदरफोर्ड ने परमाणु-संरचना की जो शानदार खोज की थी उसने सिर्फ इस बात को जन्म नहीं दिया जिसने परमाणु तथा हाइड्रोजन बमों को बनवाया बल्कि थाइरायड ग्रंथि की अतिसक्रियता के इलाज के लिए रेडियोएक्टिव आयोडीन के रोगनाशक उपयोग को भी जन्म दिया है।

मेरा विश्वास है कि हमारा कल्याण इस बात से नहीं होगा कि हम विज्ञान और उसके साधकों को समाप्त कर दें अपितु इस बात से होगा कि हम शिक्षा को व्यापक और नवीन बनाते जावें, मानव की महिमा में विश्वास रखने वाले जनमत को व्यापक बनावें और ऐसी निजी तथा सार्वजनिक नीति का निर्माण करें जो सक्रियता के हर स्तर पर मानव की महिमा को अभिव्यक्ति दे। इसका अर्थ है कि हम अपने समाज में, स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर, विज्ञान का अधिकाधिक मानवीकरण करते जावें। इसका मतलब यह हुआ कि राष्ट्रीय नीति की अभिव्यक्ति में विज्ञान के उपयोग का निर्धारण मानव के तथा उसके उत्कृष्टतम उद्देश्य के उस चित्र के अनुसार होना चाहिए जो हमारे सामने साहित्य, कला, दर्शनशास्त्र तथा धर्म के माध्यम से तथा उन लोगों की जीवनियों से प्रकट होता आया है जिन्होंने अपने आपको रचनात्मक उद्देश्यों के लिए समर्पित किया। यह वह स्तर है जहां आकर विज्ञान की संस्कृति, परम्परा के व्यापक रूप में विलीन हो जाती है।